रेगिस्तान से महानगर तक

जब-जब लिखने बैठता हूँ,
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

रामदेव आचार्य



कृती प्रकाशन, बीकानेर

रेगिस्तान से महानगर तक

पहला संस्करण : नवम्बर, १९७८

प्रकाशन : कृती प्रकाशन, जेल के कुएँ के पास, बीकानेर-३३४००१ (राज.)

मुद्रक : राजश्री प्रिण्टर्स, एम. जी. रोड, बीकानेर

आवरण पृष्ठ
तथा इन्नर टाइटिल : विभासदास, दिल्ली

अन्य लैटरिंग : सन्नू, बीकानेर

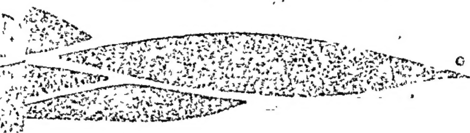
मूल्य : २५-०० रुपये



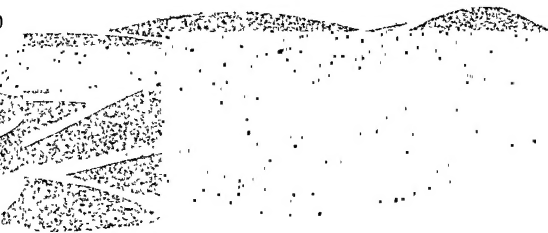
Registan Se Mahanagar Tak
(A Collection of Poems)
by RAM DEO ACHARYA

Rs. 25.00

रामदेव आचार्य



रेगिस्तान से महानगर तक



सुप्रसिद्ध गीतकार,
कर्म तथा सोच में कवि,
परम आत्मीय, ऋषि-मित्र
ताराप्रकाश जोशी के लिए

'रेगिस्तान से महानगर तक'

की कविताएँ.

रेगिस्तान से महानगर तक

अनुक्रम

अपद्य माहौल में कविता से संवाद

डॉ० जगदीश गुप्त

कुछ दूर तक मैं कवि रामदेव आचार्य के आत्म-संघर्ष का साक्षी रहा हूँ। इस संग्रह से पूर्व, कोई चार साल हुए, 'त्रयी-१' के पहले कवि के रूप में उन्होंने अपनी बाईस कविताओं के साथ प्रकाशित वक्तव्य में कुछ वाक्य ऐसे लिखे, जो आज भी स्मरणीय है :—

"अपनी कविताओं को शिल्प तथा कथ्य की दृष्टि से एकान्विति के रूप में देखूं तो मैं कहूँगा कि आभिजात्य के मोह से रिक्त मेरी कविताएं सहजता-साधारणता-आत्मीयता की कविताएँ है।"

'मेरे लिए कविता का सत्य एक गहरा और त्रासदायक अनुभव है।'

'मैं कविता लिखते समय एक भीतरी व्यथा से संत्रस्त हो जाता हूँ। मेरी अस्मिता आन्दोलित और विचलित हो जाती है।'

'मैं अपने परिवेश की घुटन को आकृति देता हूँ।'

'मेरी कविताओं का मूलभाव परिवर्तन का है। मेरे मन में वर्तमान के प्रति नफ़रत-भरा आक्रोश है, तथा भविष्य के प्रति एक आस्थापूर्ण श्रद्धा है।'

'मेरा मूल स्वर पराजय, हाहाकार, और सन्त्रास का नहीं है।'

'सृजन के स्तर पर मेरा मार्ग एक अन्वेषी का है, पर मेरे पास विशिष्टता का पोज नहीं है। मैं परम्परा से बहुत गहरे रूप में जुड़ा हुआ हूँ। परम्परा रक्त की तरह मेरे अस्तित्व में घुली-मिली है।'

'भाषा से मुझे रोमान्स है, और यह रोमान्स आसक्ति की हद तक है।'

'भाषा के स्तर पर मेरी कविता-प्रक्रिया पुनर्निर्माण तथा पुनरुद्धार की प्रक्रिया है।'

ये बातें कवि ने समीक्षक से 'आमने-सामने' होकर कही हैं। मैंने संक्षेप और चयन मात्र किया है, सन्दर्भ से काटकर या बिखरा कर इन्हें सामने रखने का भाव मेरे मन में नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि वर्षों के अन्तराल के बाद कवि का वक्तव्य बदल सकता है; नये संग्रह की नयी कविताओं के सन्दर्भ में, अनुभूतिगत परिपक्वता के परिप्रेक्ष्य में, तथा परिवेश के बदल जाने की वजह से। मेरा आशय पिछले वक्तव्य की इन पंक्तियों से उसे बाँधने का भी नहीं है। मैं केवल इस तथ्य को सामने लाना चाहता हूँ कि रामदेव आचार्य ने अपने कवि-कर्म के पीछे एक दायित्व-बोध, एक विशद सम्पृक्ति, एक आन्तरिक दबाव अनुभव किया है, जो उपेक्षणीय नहीं है। उनका कवि-व्यक्तित्व इन वाक्यों में मुखर होकर सम्बद्ध कविताओं के साथ ही प्रतिमूर्त हुआ है।

कुछ काल तक उन्हें राजस्थान की पत्रिका 'मधुमती' के सम्पादन का भार वहन करना पड़ा। उस रूप में भी उन्होंने अपनी मान्यताओं को शब्द-बद्ध किया। कुछ सूत्र-वाक्य उल्लेखनीय है :—

'व्यक्ति कभी परिपूर्ण या परम नहीं होता।'

'आत्म-साक्षात्कार से बढ़कर कोई सत्य नहीं होता।'

('मधुमती', अगस्त, १९७७ अंक)

लेखक के रूप में उनका अनुभव कदाचित् यही था कि अभिव्यक्ति के संकट से बढ़कर अस्तित्व का कोई और संकट नहीं होता। सोल्जेनित्सिन की चेतना रखते हुए उसे एक 'समनान्तर सरकार' (A Parallel Government) कहलाने का हक है। इतिहास को वह 'तटस्थ न्यायाधीश' के रूप में देखता रहा है। उसके आतंक से रहित होकर ही ऐसा सोचा जा सकता है, जबकि आज कुछ लोग उसे नियामक एवं नये मानव-भाग्य-विधाता के रूप में देखने का आग्रह करते हैं। मनुष्य के कर्म-स्वातन्त्र्य का नये तर्क से निषेध करते हुए उसे विचार विशेष के घेरे में डालकर दीक्षा-पशु बना देना चाहते हैं। अन्वेषण और स्वातंत्र्य का मार्ग अपनाकर रामदेव आचार्य ने उसका सशक्त रूप से निषेध कर दिया, और अवांछित के प्रतिवाद का निजी रास्ता निकालने की कोशिश की, जिसमें उनका जीवनानुभव ही प्रेरक और पथ-प्रदर्शक बना है। परम्परा से जुड़े रहना इस कार्य में उन्हें बाधक प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि उनके मन में उसे जड़ रूप में अपनाने का संकल्प ही उत्पन्न नहीं हुआ। जाग्रत विवेक ने ऐसा होने नहीं दिया।

'प्रतिशोध : एक रूपक' में बर्बरों ने जिस 'दिव्य औरत' को पेड़ से बाँध दिया था, उसका कहना है :—

'मेरा नाम कविता बनाम कला बनाम संस्कृति है।'

यानी कविता जीवन की समग्रता का पर्याय है। 'सरस्वती' या 'वाग्देवी' जैसे किसी परिचित नाम को न देकर कवि ने पौराणिकता से अपने को कविता के सन्दर्भ में अलग कर लिया है, और उसके द्वारा यह शब्द कहलाकर कि

'मैं मानव मन की सम्पदा और
अनुभूति की अभिव्यक्ति हूँ।'

नये मनुष्य के प्रति आस्था का स्वर व्यक्त किया है, जिसके

वल पर यह कहलाया जा सका कि बर्बरों के पाप एक दिन स्वयं भयंकर प्रतिशोध लेंगे। यह मुद्रा क्रांति से उदासीन होने या निष्क्रियता अपनाने की न होकर आत्म-विश्वास को रेखांकित करने की है। 'रचना का जन्म' नामक कविता की ये पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं:—

जब–जब लिखने बैठता हूँ,
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।
....
नस–नस में विस्फोट होने लगता है।
शिराओं में गर्म लावा भर जाता है।
पिघले हुए लोहे की तरह
शब्द पन्नों पर फैल जाते हैं।
..................—
समूचा आदमी कागज़ों पर उतर आता है।

'अपराजेय अस्तित्व' शीर्षक कविता में इसी समूचे आदमी को 'प्रामाणिक आदमी' कहा गया है। यह वही आदमी है, जिसे 'बिल्लेसुर बकरिहा' में निराला ने पहचाना था और कहा था कि इससे बड़ा मनुष्य नहीं होता। नयी कविता में यही ईश्वर और कर्म की रूढ़िबद्ध भाषा से मुक्त होकर 'नये मनुष्य' के रूप में प्रकट हुआ है। महत्ता नाम की उतनी नहीं है, जितनी उस तत्त्व की, जो उसके द्वारा संकेतित है। रामदेव आचार्य की कविताओं में जो शक्ति है, वह मनुष्यता की इसी प्रामाणिक पहचान से उपजी है, और कहीं कहीं जो अशक्ति है, वह संघर्षों से निरन्तर चलनेवाले उनके जय–पराजय के द्वन्द्व में अस्वाभाविक नहीं लगती। भाषा की चेतना और अनुशासन की प्रवृत्ति उनमें है, पर चुनाव में उतनी निर्ममता अभी नहीं आयी है, जितनी अपेक्षित है। 'निज कवित्त' की यह सीमा

छोटे-बड़े हर कवि में दिखायी देती है। फिर भी इससे ऊपर उठना श्रेयस्कर होता है।

कवि ने अपने इस संग्रह को 'रेगिस्तान से महानगर तक' नाम दिया है। अपनी ज़मीन को छोड़कर महानगरीय चेतना से जुड़ना उसे अभीष्ट नहीं है, यह बात इस संज्ञा से ही स्पष्ट है। एक छोर उसे 'जौहर' 'उदरामसर के धोरों' और 'रेत के वगूलों' से जोड़ता है, तो दूसरा 'जी रहा हूँ एक ज़िन्दगी स्वचालित, यन्त्रवत्' कहने को मजबूर करता है। बीच में अनेक प्रश्न उसे झकझोरते रहते हैं, जैसे 'तेरी आत्मा की मुक्ति कहाँ है ?' वह विस्मित होकर अपने से स्वयं पूछता है, 'कहाँ आ गये हम भाट के कबीलों में !' और अंततः जो प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं, उनमें मुख्य है, 'कौन है उत्तर–दायी कुँआरी कोखों से ईसा मसीहों के जन्म का ?' अतीत और अपनी धरती का कोमल सम्पर्क उनमें रोमानी संस्कार जगाता है, जिससे वे कविता तक से संवाद करने लगते हैं, और महानगर से आने वाला अलगाव (Alienation) उनको उस संवादात्मकता को 'आत्महत्या और कविता' तक पहुंचा देता है। बीच में उन्हें सारा माहौल 'अपथ्य' लगने लगता है।

'लहर' के किसी अंक में 'अस्तव्यस्त माहौल में सही लेखन की तलाश' करता हुआ कवि आखिरकार 'अपथ्य माहौल' ('रेगिस्तान से महानगर तक' पृष्ठ संख्या ११३) जैसी संक्षिप्त और सही अभिव्यक्ति तक पहुंच गया। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ सम्बोधन और संवाद को नाटकीय मनोभूमि पर यों रची गयी हैं, जैसे वे मनोमंच पर अभिनीत हो रही हों, और रचयिता होने के साथ-साथ कवि स्वय ही दर्शक भी बनता जा रहा हो। कहीं-कहीं इसका अतिरेक भी हुआ है, पर यह बात कवि की मानसिकता का अभिन्न अंग होने के कारण अनुपेक्षणीय है। कविता के बारे में कविताएँ लिखने की

नयी प्रवृत्ति की ओर मैं 'त्रयी-२' के कवि-परिचय में स्पष्ट इंगित कर चुका हूँ। रामदेव आचार्य के इस संग्रह की कई कविताओं में यही प्रवृत्ति सवाद की स्थिति में आती दिखायी देती है। उनकी ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :—

मेरे व्यक्तित्व को रौंद कर
पागल हाथी की तरह
समय जब मेरे ऊपर से गुजर गया,
तो मैं खामोश ताकता रहा,
....
टूटन के बाद टूटन महसूस करता रहा
....
वाल्मीकि-तनया !
तू उस समय कहाँ थी ?

इसके शीर्षक में 'बेवफ़ा' शब्द कुछ हल्कापन ला देता है, पर 'दो डायरियाँ और अपनी कविता से सवाद' में ऐसी बात नहीं है। वह स्वीकार करता है :—

पर कविता !
रूमानियत की ग़लाज़त ने
आज भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा है।

फिर स्वयं पूछने लगता है :—

मेरी कविता !
रूमानी फ़िक़रों और हक़ीक़तों के बीच
एक गहरा अन्तराल तुम्हें नज़र आता है ?
....
तुम्हारा जन्म

क़लम की नोक से ही नहीं होता
विज्ञापन की कोख से भी होता है।

इस कविता का अंत माँ और पत्नी के पारिवारिकतापरक अन्तरंग संदर्भ के साथ, कुछ आगे बढ़कर जिस रूप में होता है, उससे प्रकट हो जाता है कि कविता के विषय में कवि क्यों इतना मुखर हो उठता है :—

सभी अपने अधूरेपन का उत्तर
मुझे में खोजना चाहते हैं,
और मेरी कविता !
मैं अपने अधूरेपन का उत्तर
एक अर्से से तुम में खोज रहा हूँ।
....
तुमने मुझे एक ज़बर्दस्त सुरक्षा दी है—
अपने आपको बेपर्द कर देने की सुरक्षा।

कविता का यह उपयोग, कविता से ऐसा बोलता-चालता अन्तरंग नाता, कविता पर इतना विश्वास उस नयी दिशा का परिचायक है, जो वर्तमान युग की विडम्बनाओं, जटिलताओं, और विसंगतियों के बीच उसके अस्तित्व को सार्थक बनाये हुए है। मनुष्यता के भविष्य से बड़े पैमाने पर अपना सरोकार व्यक्त करनेवाली 'बारूद का त्योहार' शीर्षक रचना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि कवि कविता को दवा मानने की ग़लती नहीं कर रहा है, हाँ, दर्द को समझने-समझाने और कह डालने में उसे वह सहायक अवश्य मानता है। लेकिन मैं जानता हूँ बहुत-से आधुनिकमना समीक्षक इतनी रूमानियत को बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे। मुझे भी कई जगह उससे परेशानी हुई, पर मानवता की सचाई को मैं उसके कारण छोड़ नहीं पाया। रूमान-विरोध भी अभी इस देश की सहजता से पूरी तरह

एकात्म नहीं हो पाया है। उसमें सत्य का आग्रह उतना नहीं मिलता, जितना विदेशी संस्कारों का आवेगात्मक समर्थन झलकता है। नयी कविता अब विदेशी प्रभाव को बहुत दूर तक आत्मसात् करके भारतीयता की भूमि पर अपनी जड़ें गहराई तक जमा चुकी है। भावात्मकता को उसमे तरह-तरह से सहेजा-समेटा और नकारा है। 'श्रम-भंग का गीत' में रामदेव का कहना है :—

'कविता मुझको जिये, जिऊँ मैं कविता को।'

यह काव्य-जीवन भाषा की चेतना से सहज रूप में जुड़ा हुआ है, पर कवि को इसकी प्रतीति असाधारण ढंग से होती है :—

'मैं लाख प्रयत्न करता हूँ,
पर शब्दों को केवल सही अर्थों में ही भोग
पाता हूँ।

रस-प्रक्रिया के प्रख्यात व्याख्याता भट्टनायक इन पंक्तियों को पढ़ते तो निश्चय ही कठिनाई में पड़ जाते, क्योंकि जिस 'भोजकत्व' को उन्होंने सामाजिक के लिए आविष्कृत किया, वह आज कवि को अजब ढंग से संकट-ग्रस्त किये है।

जब कवि ने अपने दर्द को कहना शुरू किया—'मेरा दर्द कोई नहीं जानता' तो जाननेवालों को 'मेरा दरद न जाणे कोय' की अनुगूँज सुनायी दी, पर जब उसने कहा—'मेरे पास एक ही नहीं। दो-दो तरह का दर्द है—एक अपना। एक पराया।' तो सपाटबयानी सीमा तक पहुँच गयी, और दर्द की जगह सिर्फ दर्द की बात हाथ लगी। मीरां की पंक्तियां उसने कविता में प्रत्यक्ष रूप में भी समेट लीं, केवल सांकेतिक उपयोग तक वह अपने को सीमित नहीं रख सका। लेकिन इसी ऊहापोह में कुछ दूसरी बात भी वह कह डालता है, जो मर्म छूती है :—

इस विशाल नगरी में मैं
बेघरबार हूँ!
ग़लत समय के ग़लत नियमों का शिकार हूँ!

दो पंक्ति आगे चलकर "विशाल नगरी" सहसा "अजनबी मुल्क" में परिणत हो जाती है, और "बेइलाज दर्द-दिल" कविता खीझ पैदा करने लगती है, किन्तु इतने में ही कवि एक पंक्ति बैनर की तरह सामने ले आता है :—

"मैं ऐसी निकम्मी बातें क्यों सोचता हूँ ?"

नाटकीय परिस्थिति सहज हो उठती है। जो लोग काम की बातें सोचते हैं, उनसे अपने को अलगाने की कोशिश करते हुए वह कहता है :—

"मैं जानवर को जानवर कहता हूँ,
और जानवर की दुलत्ती खाकर
दर्द-दिल की दवा खोजता हूँ।
जब कभी अपने को दूसरा रंग देता हूँ
मेरी हर अदा बाग़ी हो जाती है।"

उसे 'अदा' के साथ 'बाग़ी' शब्द रखने में कोई कठिनाई नहीं हुई, पर जो व्यक्ति उसके इस विचित्र स्वभाव से परिचित नहीं होगा, वह परेशानी में पड़ जायेगा। विडम्बनापूर्ण स्थिति की साझेदारी करने में उसे संकोच हुआ तब ? आज हर कवि को इन बातों पर विचार करने की जरूरत होती है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताओं में कवि ने अन्तर्संघर्ष करके, रूमानियत के घेरे को तोड़ते हुए, याकि उससे अपने को नये स्तर पर जोड़ते हुए, आत्म-परिष्कार किया है। उसकी "हमसफ़र कवि के नाम" ऐसी ही कविता है, जिसमें 'कविता' को लेकर फिर कवि ने अपनी विपन्न मनोदशा का, 'वेश्या' और "छिनाल औरत" के प्रतीक अपनाकर, नंगी भाषा में इज़हार किया है। ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :—

अगर तुम क़लम का प्रयोग
छोड़ ही नहीं सकते,

हिन्दुस्तान है

तो उसे चलाम्रो किसी मजदूर की खुरपी की तरह,
किसी धुनिया की धुनकी की तरह—
ताकि सुबह की खेती शाम को कट सके।

"इस साली आत्मा-वात्मा की बात" लिखने में जो ढंग उसे हुआ होगा, वह नयी कविता के मुहावरे मे अपरिचित व्यक्ति को कठिनाई से ग्राह्य होगा, पर कविता के अंत से शायद वह भी सहमत हो जायेगा :—

इसलिए इस देश में
कविता लिखना या तो एक तपस्या है,
या फिर क़ैदी पंखों की
एक मूर्खतापूर्ण छटपटाहट !

जिसने भी कहा हो, यह एहसास "पंखों से बाँध दिये पत्थर" से आगे का है, ऐसा मुझे लगता है।

समकालीनता के बोध को प्राय: इतिहास-चेतना से जोड़ा जाता है, जो सही है, परन्तु इतिहास को किस रूप में लिया जाय—यह सवाल हल हो गया हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। मैं इतिहास को नियतिवाद का पर्याय नहीं मानता, और न उसे इस हद तक नियामक ही समझता हूँ कि मनुष्य का कृतित्व और व्यक्तित्व दोनों उसके पाँव की धूल बनकर रह जायँ। ऐतिहासिक शक्तियाँ मनुष्य के पूर्व संदर्भों की सजगता के कारण परिचालित अवश्य करती हैं, पर अततः वही समस्त ऐतिहासिक गति-विधि का मूल सिद्ध होता है। जो इतिहास समाज को सार्थक और व्यक्ति को निरर्थक मानकर चलेगा, या ऐसा सिद्ध होगा, वह मनुष्यता का इतिहास कदापि नहीं हो सकता। अगली पीढ़ियाँ ऐसी इतिहास-दृष्टि को जड़ से उखाड़कर फेंक देंगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

"काले चश्मेवाला अश्वारोही" में किंचित गर्वोक्ति का स्वर

अपनाते हुए पूरे आत्म-विश्वास के साथ जब रामदेव आचार्य अपनी "मसि" और 'क़लम' को काल-पुरुष के मन्त्राघात के आगे अपराजेय सिद्ध करते हैं, तो उनकी मुद्रा आकर्षक लगती है, पर सबको विश्वसनीय लगने के लिए उसे इस संग्रह के बाद और कई संग्रहों की आवश्यकता होगी। "इतिहास की पुनर्रचना" शीर्षक कविता की जमीन "कनुप्रिया" की मनोभूमि का स्मरण दिलाती है, अतः वह दिशा श्रेयस्कर नहीं होगी। कवि के निजत्व पर आज समीक्षक की काफी कड़ी आँख रहती है। कुछ ऐसे ही प्रसंग में 'पौराणिक संदर्भ' में लिखी गयी इस संकलन की कई कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। "समर-संकल्प-दो" में गीता के महान् संदेश की मानवीय आधार-भूमि को सही शब्दों में व्यक्त किया गया है :—

अर्जुन !
अन्याय के सम्मुख
वैराग्य का अर्थ नपुंसकता है।
.....................—
मोह के आवरण में
आज यदि तुम
स्वय से ही अदृश्य रहे
तो कल के सूर्य का रथ
तुम्हारी जीवित देह को मृत मानकर-
तुम्हे रौंदता हुआ आगे बढ़ जायेगा,
और मानव-इतिहास में
तुम्हें देहधारी मुर्दे के रूप में
कलंकित छोड़ जायेगा।

यहां अर्थपूर्ण है स्वयं से ही अदृश्य रहने की बात। "आत्म-साक्षात्कार" भारतीय सांस्कृतिक अनुभव की चरम परिणति माना

गया है, और मैं आज के सन्दर्भ में भी उसे निरर्थक या निरूपयोगी नहीं मानता। रामदेव आचार्य को अगर यह, सांस्कृतिक विरासत प्राप्त न होती, तो वे न तो अर्जुन को सम्बोधित करके वह सब कहते, जो ऊपर की पंक्तियों में समाहित है, और न द्रौपदी के व्यक्तित्व को नया निखार देकर "एक पौराणिक वेदना" जैसी सशक्त कविता ही लिख पाते, जिसको पढ़कर मैं उनके कृतित्व की ओर आकृष्ट हुआ था। उनका यह पक्ष अनुपेक्षणीय ही नहीं, अनुशंसनीय भी है। विशेषकर तब जब वह परम्परा की ओट हो नहीं लेता, उसकी चोट भी सहता है।

"परम्परा चाटती रही है मेरी चेतना के तल"। "रक्त-सने हस्ताक्षर" कविता, जिसकी यह पंक्ति है, पूरी की पूरी तिक्तता से युक्त है, पर अनुभव की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न और सुसगठित भी।

ग़ज़ल, नज्म, और उर्दू के लहजे में लिखी हुई कुछ कविताएँ रामदेव आचार्य के रूचि-भेद को तो प्रकट करती है, पर वे दुष्यन्त-कुमार की "साये में धूप" की तरह रचनात्मकता का शक्ति-केन्द्र नहीं बन सकी हैं। कुछ स्मरणीय पंक्तियों के आधार पर उनके रचनात्मक संगठन की ढिलाई और कच्चेपन को नजरअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

रचनाकार के रूप में उनकी वास्तविक शक्ति "भूख बोलती है" और "अकाल-ग्रस्त क्षेत्र की कविता" जैसी कविताओं में सामने आती है, जिनकी संख्या इस संकलन में कम नही है। इनमें अप्रस्तुत विधान का जो कलात्मक वैविध्य प्रकट हुआ है, वह अलंकृति (Rhetoric) मात्र नही है। मानसिक संवेग के साथ चलने और प्रस्फुटित होने के कारण उसकी सार्थकता प्रायः स्वतः सिद्ध है। वस्तु और प्रभाव दोनों की विशदता उसमें स्पष्टतः लक्षित है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

जब मेहनत का खून
गेहूँ की बाली बनकर फूटता है
पसीना चावल बनकर चमकता है

× × ×

दूसरी मंज़िल की क्रूरता
आँखों के सामने
कोहरे के छाते तान देती है।

'भूख' और 'पेट' से देह के कैसे-कैसे रिश्ते हो सकते हैं, यह तथ्य कवि के अनुभव से छनकर कविताओं में व्यक्त हुआ है, पर इतना नहीं कि वह एकदम पारदर्शी हो गया हो। भारत देश की दुर्दशा पर कवि का रोना बहुत हो चुका है, पर आज की कविता में उसकी अभिव्यक्ति बहुत कुछ व्यंग्यात्मक ही हो पाती है :—

सफेद परिधानों में रेशमी खटमल
चिपके हैं देश की आत्मा से।

कवि अंततः चारों ओर फैले इसी "अपद्य माहौल" के बीच अपने कृतित्व को सार्थक बनाना चाहता है। "न आत्म-हत्या और न जीवन" के बीच के तनाव में वह बहुत-सी कविताओं में छटपटा-कर रह जाता है। उसकी यह बेचैनी ही हमें उसके करीब ले जाती है।

'बीसवीं सदी का आदमी' में व्यक्ति यान्त्रिकता, एकरसता, प्रवंचना, औपचारिकता तथा अपनी 'इकाई' में अलगाव को झेलता हुआ सामने आता है। एक ओर वह 'आर्थिक घेराव' को 'चीनी-दीवार-सा' महसूस करता है, दूसरी ओर उसे सब कहीं 'लाक्षागृह

हो लाक्षागृह' नज़र आते हैं। महाभारत से लेकर विदेश तक को अपने सादृश्य-विधान में निस्संकोच सहेज लेने की व्यग्रता जिस कवि में हो, वह अपने को चाहे तो भी 'रेगिस्तान से महानगर तक' सीमित नहीं कर सकता है। इस संग्रह के मुद्रण-प्रकाशन में कवि की कल्पना अंशतः ही साकार हो सकी है, तथापि इसका यथोचित स्वागत होगा, इसमें सन्देह नहीं, मैं अपने इस आरोपित वक्तव्य को, सहज बनाने के लिए, उसी की पंक्तियों से समाप्त करता हूं :—

इन सबने बना दिया है मुझे
चलता-फिरता एक अजायबघर।
....
अर्थों से परे शब्दों में
जी रहा हूं एक ज़िन्दगी।
....

दिनांक १६-११-७८ —डॉ० जगदीश गुप्त

जब मेहनत का खून
गेहूँ की बाली बनकर फूटता है
पसीना चावल बनकर चमकता है

× × ×

दूसरी मंज़िल की क्रूरता
आँखों के सामने
कोहरे के छाते तान देती है।

'भूख' और 'पेट' से देह के कैसे-कैसे रिश्ते हो सकते हैं, यह तथ्य कवि के अनुभव से छनकर कविताओं में व्यक्त हुआ है, पर इतना नहीं कि वह एकदम पारदर्शी हो गया हो। भारत देश की दुर्दशा पर कवि का रोना बहुत हो चुका है, पर आज की कविता में उसकी अभिव्यक्ति बहुत कुछ व्यंग्यात्मक ही हो पाती है :—

सफेद परिधानों में रेशमी खटमल
चिपके हैं देश की आत्मा से।

कवि अंततः चारों ओर फैले इसी "अपच माहौल" के बीच अपने कृतित्व को सार्थक बनाना चाहता है। "न आत्म-हत्या और न जीवन" के बीच के तनाव में वह बहुत-सी कविताओं में छटपटा-कर रह जाता है। उसकी यह बेचैनी ही हमें उसके करीब ले जाती है।

'बीसवीं सदी का आदमी' में व्यक्ति यान्त्रिकता, एकरसता, प्रवंचना, औपचारिकता तथा अपनी 'इकाई' में अलगाव को झेलता हुआ सामने आता है। एक ओर वह 'आर्थिक घेराव' को 'चीनी-दीवार-सा' महसूस करता है, दूसरी ओर उसे सब कहीं 'लाशाएँ

ही लाक्षागृह' नज़र आते हैं। महाभारत से लेकर विदेश तक को अपने सादृश्य-विधान में निस्संकोच सहेज लेने की व्यग्रता जिस कवि में हो, वह अपने को चाहे तो भी 'रेगिस्तान से महानगर तक' सीमित नहीं कर सकता है। इस संग्रह के मुद्रण-प्रकाशन में कवि की कल्पना अंशतः ही साकार हो सकी है, तथापि इसका यथोचित स्वागत होगा, इसमें सन्देह नहीं, मैं अपने इस आरोपित वक्तव्य को, सहज बनाने के लिए, उसी की पंक्तियों से समाप्त करता हूं :—

इन सबने बना दिया है मुझे
चलता-फिरता एक अजायबघर।
....
अर्थों से परे शब्दों में
जी रहा हूं एक जिन्दगी।
....

दिनांक १६-११-७८ —डॉ० जगदीश गुप्त

जब मेहनत का खून
गेहूँ की बाली बनकर फूटता है
पसीना चावल बनकर चमकता है

× × ×

दूसरी मंजिल की क्रूरता
आँखों के सामने
कोहरे के छाते तान देती है।

'भूख' और 'पेट' से देह के कैसे-कैसे रिश्ते हो सकते हैं, यह तथ्य कवि के अनुभव से छनकर कविताओं में व्यक्त हुआ है, पर इतना नहीं कि वह एकदम पारदर्शी हो गया हो। भारत देश की दुर्दशा पर कवि का रोना बहुत हो चुका है, पर आज की कविता में उसकी अभिव्यक्ति बहुत कुछ व्यंग्यात्मक ही हो पाती है :—

सफेद परिधानों में रेशमी खटमल
चिपके हैं देश की आत्मा से।

कवि अंततः चारों ओर फैले इसी "अपच्य माहौल" के बीच अपने कृतित्व को सार्थक बनाना चाहता है। "न आत्म-हत्या और न जीवन" के बीच के तनाव में वह बहुत-सी कविताओं में छटपटा-कर रह जाता है। उसकी यह बेचैनी ही हमें उसके करीब ले जाती है।

'बीसवीं सदी का आदमी' में व्यक्ति यान्त्रिकता, एकरसता, प्रवंचना, औपचारिकता तथा अपनी 'इकाई' में अलगाव को झेलता हुआ सामने आता है। एक ओर वह 'आर्थिक घेराव' को 'लोहे की दीवार-सा' महसूस करता है, दूसरी ओर उसे सब कहीं [illegible]

रेगिस्तान है [illegible]

ही लाक्षागृह' नज़र आते हैं। महाभारत से लेकर विदेश तक को अपने सादृश्य-विधान में निस्संकोच सहेज लेने की व्यग्रता जिस कवि में हो, वह अपने को चाहे तो भी 'रेगिस्तान से महानगर तक' सीमित नहीं कर सकता है। इस संग्रह के मुद्रण-प्रकाशन में कवि की कल्पना अंशत: ही साकार हो सकी है, तथापि इसका यथोचित स्वागत होगा, इसमें सन्देह नहीं, मैं अपने इस आरोपित वक्तव्य को, सहज बनाने के लिए, उसी की पंक्तियों से समाप्त करता हूं :—

इन सबने बना दिया है मुझे
चलता-फिरता एक अजायबघर।
....
अर्थों से परे शब्दों में
जी रहा हूं एक जिन्दगी।
....

दिनांक १६-११-७८ —डॉ० जगदीश गुप्त

रेगिस्तान से महानगर तक

[एक यात्रा-वृत्तांत/बीकानेर से बम्बई तक]

रेगिस्तानी आकाश
और मानसूनी बादलों में
बिजलियों की चित्रशाला ।
उष्णता के धरातल पर
मौसम को रस-वर्षा ।
सड़कों-चौराहों-गलियों में
झिलमिल-झिलमिल दिपते
छोटे छोटे तालाबों के
ताजमहली दर्पण ।

यह रंगीन फ़िज़ां,
और उदरामसर[1] के धोरों को पार करती
धक-धक धड़कती रेल ।

ये रेत के बगूले,
जो उड़-उड़ कर
आँखों-चेहरों-वस्त्रों पर
झीनी-झीनी परतों में चिपक जाते हैं,
आज मौसम की मदहोशी,
और मस्ती के आलम में डूबे-डूबे

1. बीकानेर के समीप एक रेगिस्तानी ग्रामीण-क्षेत्र ।

बादलों की गर्ज-ध्वनि,
बिजली की नृत्य-छवि,
और हवाओं की सरगम में
बेसुध-बेखबर खो रहे हैं।

रेगिस्तानी छोरों के आर-पार
उभर आयी है
मारवाड़ी पर्वत-मालाएँ।
रेल की पटरियों के साथ-साथ
भागी जा रही हैं पहाड़ी पगडंडियाँ।

कवि-मित्र ![1]
किस रँगरेज़ ने रँगा है
धरती का मख़मली ओढ़ना ?
किस परम पुरुष ने भर दिया है
लूणी[2] की देह में
उफनती धाराओं का खुमार ?
किसकी प्रतीक्षा कर रही है
खेतों-खेतों डोलती कुँआरी बहार ?
धरती के मखमली ओढ़ने पर
मोर और तोतों की तरह
किस दिव्य प्रकाश से
मंडित हो रही हैं
'भारमली' और 'राधा' के कवि[3] की
अमृत-घट-छलकीं काव्य-पंक्तियाँ ?

---

1. श्री ताराप्रकाश जोशी, सुप्रसिद्ध गीतकार। यात्रा में सहयात्री।
2. मारवाड़ की एक नदी।
3. श्री सत्यप्रकाश जोशी, सुप्रसिद्ध राजस्थानी कवि और उनकी चर्चित कृतियाँ

किस आराध्य की सनातन साधना में
गुजरात की शस्य-श्यामला धरती
तपस्या की तरह समाधिस्थ,
और परिणीता की तरह समर्पित है ?

ताप्ती, नर्मदा, साबरमती[1] के किनारों पर
बिखर गया है युग-गायक
उमाशंकर जोशी[2] के काव्य का गुलाल ।
चावल-गन्ना-बाजरा के खेतों की
सोंधी-सोंधी महक
दे रही है सत्य-अहिंसा-करुणा का सन्देश ।
यहीं-कहीं है वह तपोवन,[3]
जहाँ 'रघुपति राघव राजा राम' के साथ-साथ
ईश्वर और अल्लाह के मध्य उठी दीवारें
एकाएक ढह गयी थी ।

बादलों की गज-गर्जन,
पहियों की लय-बद्ध धड़कन,
नदियों की अँगड़ाती जवानी,
खेतों की निरंतर छबीली छवियाँ—
कब तक, आखिर कब तक,
संगदिल हमसफर ![4]
ये गुजराती छायाएँ
हमारी चेतना पर छायी रहेंगी ?

---

1. गुजरात की प्रसिद्ध नदियाँ ।
2. ज्ञानपीठ-पुरस्कार-विजेता गुजरात के यशस्वी कवि ।
3. गांधीजी का साबरमती आश्रम ।
4. श्री तारकनाथ जोशी । सहपाठी ।

किसने ओढ़ा दी है ?
दिशाओं को धानों की चूनर
किसने बिछा दिये हैं
झीलों के किनारे-किनारे
ये रोशनी के झुरमुट ?
किसने रच दी हैं
ग़ज़लों-गीतों-कविताओं की धुनें
पहाड़ो सफ़ों की हरी पंक्तियों में ?

ओ अनाम, विराट् चित्रकार ![1]
आँखों में तैर-तैर जाते हैं
सजीव दृश्यो के अनेक विम्ब !
वेदों की समवेत वाणी से लेकर
आजतक की संवेदनशील भाषा को
तुमने दी हैं अमृत-डूबी अभिव्यक्तियाँ ।

बिछ गयी है महाराष्ट्र की पटरियों पर
ओस की नमी ।
उतर रही हैं मन के जंगलों में
बादलों की स्वर्णिम छायाएँ ।
डूब गयी हैं रस-कलश में
डूबते सूरज की सिंदूरी परछाइयाँ ।
चहक-चहक उठी है
नीड़ों को लौटतीं
चिड़ियों की उड़ानें ।
अमाप बिखरे पानी की स्याही से
सरसब्ज़ ज़मी के पृष्ठों पर

1. अदृश्य स्रष्टा का विराट् रूप–प्रकृति ।

लिख रहे हैं खजूरी वृक्ष
दृश्यों के कथानक।
दिशाओं में ध्वनित हो रहे
पु०ला० देश पाण्डे[1] के
नाटकों के जीवंत संवाद।

सहृदय, परम आत्मीय ऋषि-मित्र ![2]
तुम्हारे गीतों की वेदना
कहीं इन्हीं दृश्यों और बिम्बों में
अपना परित्राण न खोज ले !



लो आ ही गया आखिर महानगर !
प्रतीक्षातुर थके-थके नयन,
यात्रा-रत टूटी-टूटी देह के
स्वागतार्थ !

बिजली और पेट्रोल के पहियों पर
भागती जिन्दगी का साक्षात् प्रमाण !

भीड़-भरी सड़कों पर
कामकाजी यात्राएं !
अनुबन्धों की योजनाएं,
साजिशों की मुठभेड़,
घरों से दफ्तरों का फाइल-लोक
और फाइल-लोक से
घरों का बासी-बासी एकसापन !

---

1. महाराष्ट्र के बहु-चर्चित यशस्वी नाटककार।
2. श्री ताराप्रकाश जोशी

अपार भीड़ों में भटकता
बुझा-बुझा एकाकीपन !
सुबह से शाम,
शाम से सुबह,
भागती-लौटती मुर्दा आवाजें।
रोटी-रोजी की देहरी पर नत-मस्तक
चापलूसी अदाएं, घिघियाती प्रार्थनाएं !

ऊब-उकताहट से राहत पाने
समुद्र-तटों पर जुड़ते
भीड़-भरे उत्सव !
झूलते उद्यानों में
आत्म-विस्मृत विचरण !
भव्य अट्टालिकाओं की प्रदर्शनी को ताकते
एकटक नयन !

महानगर !
तेरे इन्द्रलोकी लिवास में कराहती
तेरी आत्मा की मुक्ति कहां है ?
ताज़महली होटलों की नींवों में दम तोड़ती
तेरी धड़कनों का अंदाज़ कहां है ?
डबल-डैकर-बसों,
टैक्सियों,
विद्युत-रेलों में दौड़तीं यात्राएं
शांति की किस मंज़िल की तलाश कर रही है ?
जीवन की किस गति को पकड़ने के लिए
तेरी गति का यह उन्माद
भूत-जैसा दृश्य-अदृश्य हो रहा है ?

शान-शौकत के नेपथ्य में
फलतीं-फूलतीं औपचारिकताएँ !
टूटतीं शपथें,
क्षय-ग्रस्त दिल,
गुमराह वायदे,
संकल्प-हीन प्रण—
महानगर !
तेरे शब्दों के संसार में
कितने लाक्षागृह हैं ?

मशीनों-उद्योगों में जागते महानगर !
तेरे ज़िन्दा होने का सबूत क्या है ?
फ़िल्मी स्वप्निलता की भावुकता में क़ैद
तेरी आदमियत की सांस इतनी मंद क्यों है ?

महानगर !
क्या तुम्हारी पहचान है उस प्रामाणिकता से
जिसने रोमिओ-जूलिअट,
हीर-रांझा,
रामू-चदणा,
लैला-मजनूं, और
एन्टनी-क्लिओपात्रा को
बलिदानों के उच्चतम शिखरों का
आरोहण करने की प्रेरणा दी थी ? . . .

सम्बन्धों में मिश्रण,
भावनाओं में भ्रष्टाचार,
प्रमोशन के लिए देह-व्यापार,
दिल पर ब्लेड,

जेब पर कैंची—
महानगर !
तेरी भीड़ में भागती मुर्दा ज़िन्दगी
किस सफ़र का फ़ासला तय कर रही है ?

समुद्र में उठता-गिरता ज्वार
तुम्हारी जीवन-पद्धति का
क्या सार्थक रूपायन है ?

शान और सम्पदा की शोध में
भटकतीं अधूरी-अतृप्त आत्माएँ
खेतों-खलिहानों में लहराते लोक-संगीत से
कितनी दूर छिटक गयी है !

मायापुरी के निवासियो !
क्या तुम्हारी प्यासी रूहों को
किसी भी अमृत-पुत्र ने
या सरस्वती—वंशज ने
आदमी की मूलभूत संवेदना का
सन्देश नहीं दिया ?

समुद्र-तट पर, और
रंगीन उद्यानों में
परस्पर आलिंगन-बद्ध
मनुओ और श्रद्धाओ !
किस आदिम राग की अनुकृति में
तुम इस कदर प्रदर्शित हो ?
क्या तुम्हें नर-नारी,
प्रकृति-पुरुष के
सनातन सम्बन्धों की
तनिक-सी भी पहचान है ?

क्या तुम्हें तनिक-सा भी आभास है
कि तिजोरियों से लदी
गगन-चुम्बी इमारतों के तलों से
फुटपाथी आवासों से उठता हुआ
काला, मटमैला धुआँ
उनके शिखरों तक पहुंचने की चेष्टा में
शिथिल होकर
मध्यान्तर में ही दम तोड़ रहा है ?

अनागत से बेखबर
मायापुरी के निवासियो !
हो सकता है कि यह काला, मटमैला धुआँ
एक दिन भव्य प्रासादों
और वैभव-विलासों को
अपने सुरसा-मुख में समेट ले !

बीकानेर १२ सितम्बर, १९७६

एक पौराणिक वेदना

मैंने कब माँगे थे पाँच पति ?
पति कभी प्रेमी नहीं होते।
जो प्रेमी होते हैं कभी पति नहीं होते।

मैंने तो केवल एक ही पति का
स्वयं वरण किया था।
उस समय,
जब उस विराट् राज-सभा में
बड़े-बड़े यशशाली, बलशाली,
धरनीधर, धनुर्धर
अपने लक्ष्य-भेद की असफलता
इस तरह स्याह हो गये थे
जैसे ग्रहण-ग्रस्त सूर्य—

तब मैंने महाबाहु भरतवंशी को
तपस्वी ब्राह्मण वेश में
यज्ञ-पुरोहितों के झुण्ड से उठते हुए देखा था।
यह और कोई नहीं,
स्वयं मेरा सौभाग्य था।

दीप-शिखा सीता की तरह
मन-ही-मन
मैं भी तापस-वेश-धारी
भरतवंशी पर रीझ गयी थी।

खम्भे के नीचे खड़े होकर,
कड़ाव में पड़े तेल में झांकते हुए,
जब महाबाहु धनञ्जय ने
ऊपर चक्करफेरियाँ खाती हुई मछली की
आँख को छेदने के लिए
धनुष पर पाँच तीर रखकर
भरपूर शक्ति से
प्रत्यञ्चा को कान तक खींचा था,
तो मुझे एक साथ पाँच अनुभूतियाँ हुई थीं—

* मैं उन बाहुओं में बँधने के लिए
भीतर-ही-भीतर विगलित हो गयी थी।

** मैंने स्वयं को चक्कर खाती मछली के रूप में देखा था,
और भरतवंशी को मछुए के रूप में।

*** पार्थ के धनुष की टंकार से जो ध्वनि हुई थी,
वह मेरे रोम-रोम को ध्वनित कर गयी थी।

**** भरतवंशी ने जिस भरपूर शक्ति से
प्रत्यञ्चा को ताना था,
उससे लगा था
कि मेरी देह ही प्रत्यञ्चा की तरह तन गयी है।

***** और जब उन हाथों से तीर छूटकर
चक्करफेरियाँ खाती हुई
मछली की आँख को छेद दिया था,
तो वह शिकार हुई मछली मैं ही थी।
न तो प्रथा-पुत्र ने कोई प्रतियोगिता जीती
न राजपुरुषों ने हारा कोई दाँव—

उस दिन जो विजयी हुआ वह मेरा मन था।
उस दिन जो पराजित हुआ वह मेरा मन था।

और जब यह भेद खुला
कि तापस-वेश-धारी और कोई नहीं,
स्वयं पुरुष-श्रेष्ठ पार्थ हैं,
तो मैंने इठलाती हुई साक्षात् नियति को
गर्व से ठेंगा दिखाकर चिढ़ा दिया था!

मुझे जीतकर एकांत में
आकाश की तरह जब मनस्वी मुझ पर झुके थे,
तो प्यासी धरती की तरह उठकर
मैं स्वयं उनके होठों तक खिंचती चली गयी थी।

लेकिन यह किसे पता था
कि दुर्भाग्य-सी प्रबल माँ
वज्र-प्रहार की तरह यह वाक्य-प्रहार कर देंगी—
"भीख में मिले रत्न को
पाँचों भाई आपस में बाँट लो।"

इस एक वाक्य ने ही
मुझे नारी से वस्तु बना दिया था।
एक प्रेमिका को
सेविका बना दिया था।

फिर नारद की सम्मति से
जब यह निर्णय लिया गया
कि पाँचों भाई बारी-बारी से
एक-एक वर्ष के लिए मेरे पति बनें,
तो मैंने अपने भीतर
एक स्त्री को मरते हुए पाया,

और मेरी जगह
एक खूँटे-बँधी गाय को
झुकते हुए पाया,
जिसके शरीर से
कोई भी वृषभ गुजर सकता हो !

मैंने कब माँगा था
धर्मराज का बूढ़ा मन और ठण्डापन ?
मैंने कब स्वीकारी थी
भोजन-भट्ट और पेटू की गज-काया ?
मैंने कब वरा था
व्यक्तित्व-हीन, नाम-हीन
दो नपुंसकों को ?

मेरी देह का प्रत्येक अंग समर्पित था
केवल एक भरतवंशी धनञ्जय को।

इतिहास साक्षी है,
एक माँ ने अपने बेटों के भोग के लिए
एक नारी की देह के
पाँच टुकड़े कर दिये थे,
जिनमें केवल एक टुकड़ा औरत थी।
एक ज्ञानी ने एक आयु को
एक-एक वर्ष के
पाँच खण्डों में विभाजित कर दिया था,
जिनमें केवल एक खण्ड जीवन था।

एक था पुरुष और एक थी नारी।
शेष थे स्वामी और एक थी दस्तु।

बीकानेर

भ्रम-भंग का गीत

आधा जीवन पिया चाय की चुस्की में,
आधा जीवन फूंक दिया सिगरेटों में।
बाक़ी जितनी पूंजी अपने पास बची,
उस पूंजी को खर्च दिया कविताओं में।

यह परिवेश यातना का पर्याय मिला,
जैसे शापित क़ैदी एक सज़ा भोगे।
पहचानों से धोखे खाये, भ्रम टूटे,
षड्यंत्रों ने बढ़ते हुए क़दम रोके।

हम ऐसे सौदागर हैं इस बस्ती के,
जो अपने नातों-रिश्तों से ठगे गये।
सीता-सी तेजस्वी मर्यादाओं पर,
धोबी-से आरोप अचानक मढ़े गये।

मोड़ों पर ऐसे हमको हमराज़ मिले,
जो पगडंडी की रेखाएँ तोड़ गये।
हम तो संवेदन में उन्हें समर्पित थे,
वे संवेदन से कुण्ठाएँ जोड़ गये।

थोड़े-से अपने दिमाग़ में सपने थे,
ग़लत समय ने उनके पंख काट डाले।
आकांक्षा गुमराह मोड़ पर बहक गयी,
दुष्ट साज़िशों ने संकल्प चाट डाले।

थका-थका, हारा-हारा एकाकीपन,
सम्बन्धों का ज़हर निगलता चला गया।
फटी-फटी जेबों में घुटता रहा सृजन,
मौन बर्फ़ की तरह पिघलता चला गया।

समझौतों ने जगह-जगह पर बहलाया,
आदर्शों ने घुटे-घुटे सन्दर्भ दिये।
सौ-सौ बार परिस्थितियों ने दहलाया,
पराजयों ने सहमे-सहमे अर्थ दिये।

मन तो मिला सिकंदर-जैसा विश्व-जयी,
धीरज, जो हर-एक पाप को माफ़ करे।
अपनों की टुच्ची हरकत ऐसी देखी,
जो मन के सब पाक इरादे साफ़ करे।

अब तो बस यह एक तमन्ना बाकी है,
रचना में अस्तित्व विसर्जित कर ही लूं।
कविता मुझको जिये, जियूं मैं कविता को,
इतनी-सी पूंजी तो अर्जित कर ही लूं।

जयपुर

२८ अक्तूबर, १९७४

ग़ज़ल

हो गयी मुश्किल यहाँ पहचान है,
थाल पूजा का लिये शैतान है !
क्या भरोसा तेरे-मेरे प्यार का,
ज़हर का जब नाम ही मुस्कान है !
रास्तों की भीड़ में भटके बहुत,
हर जगह पाया मगर सुनसान है !
ख़ूबसूरत आपकी है यह अदा,
नफ़रतों में प्यार का ऐलान है !
ताजमहलों को रचा जिसने यहाँ,
खंडहर खुद रह गया इन्सान है ।
सड़क, गलियाँ, और चौराहे सभी–
युद्ध में हारे हुए मैदान हैं ।
मंदिरों–गिरजाघरों के खौफ़ से
डर गया, औ' लापता भगवान है !
धर्मग्रन्थों में लिखे अभिशाप जो,
वे यहाँ समझे गये वरदान है !
मंज़िलों का है नहीं कोई निशाँ,
ख्वाब के जारी बहुत फ़रमान हैं ।
खोज की हमदर्द की तो यों लगा,
हर गली, हर मोहल्ला वीरान है ।

बीकानेर — ३० सितम्बर, १९७६

प्रतिशोध : एक रूपक

बर्बरों ने उस दिव्य औरत को पेड़ से बांध रखा था।
उस रूपवती आदि-शक्ति के हाथ-पाँव रस्सियों में जकड़े थे,
उसके परिधान तार-तार करके जर्जर कर दिये गये थे।
उस मर्यादा-ज्योति की आबरू लूटने का
हर सम्भव प्रयत्न किया गया था।

तेजस्वी औरत के मुँह पर काली पट्टियाँ बँधी थीं,
(ताकि वाणी पर प्रतिबन्ध रहे !)
उसे चाबुक मार-मार कर डराया जा रहा था।
समवेत स्वरों में यह घोषित किया जा रहा था
कि वह औरत विक्षिप्त है। गूंगी है। बहरी है। सनकी है।

बर्बरों ने उस औरत के होश-हवास उड़ा दिये थे।
उन जंगली लोगों के दिमागों में सींग उगे हुए थे।
जीभ से झूठ का साँप मणि-प्रकाश फेंक रहा था।
मन में पाप का समुद्र साजिशों के ज्वार-भाटे से आन्दोलित था।
कमर से ऊपर की धड़ एकदम निर्वसन थी।
नीचे का शरीर पशु-चर्म से, या घास-फूस से,
या वल्कल-वस्त्रों से ढँका था।

जंगली लोगों के हाथों में पैने औज़ार थे।
विजय के उन्माद-भरे माहौल में मदमस्त होकर
वे मिलन-त्योहार मना रहे थे।

उनके मन में षडयंत्रों का जलजला था ।
वे चालाकी के साथ कानून से खेल रहे थे ।
उनकी अभिलाषा उस दिव्य औरत के अस्तित्व को
रौंद-रौंद कर, कुचल-कुचल कर फेंक देने को थी ।

दिव्य औरत के चेहरे पर आत्म-विश्वास का बल था ।
आँखों में अतल गहराई थी ।
होश-हवास-हीन थकान के बावजूद शरीर में गति थी ।
मन में दीप-शिखा-सी प्रज्वलित आस्था थी ।
उसे विश्वास था कि एक दिन मुक्ति-कारवाँ
अस्मिता की बहार लिये इसी रास्ते से गुजरेगा ।

जबकि बर्बर लोग विजय-दुन्दुभि बजाते हुए
अपनी साजिशों की सफलता पर
एक-दूसरे का स्नेह-आलिंगन कर रहे थे
कि मुक्ति-कारवाँ आ पहुंचा !

बर्बरों ने बच निकलने के अनेक नाटक किये,
पर उन्हें सच्चाई की बलिष्ठ भुजाओं ने
अपनी गिरफ्त में ले लिया ।

दिव्य औरत को बन्धन-मुक्त कर दिया गया ।
मुँह से काली पट्टियाँ हटा दी गयीं ।
उस अपहृता के पावन चरणों में कारवाँ के नायक ने
अपना श्रद्धा-भरा मस्तक रख दिया ।

उस दिव्य औरत ने कहा—
"मैं मानव मन की सम्पदा, और
अनुभूति की अभिव्यक्ति हूँ ।

मेरा नाम कविता बनाम कला बनाम संस्कृति है।
मैं अनश्वरा, अनंता, अक्षया हूँ।"

मंद हास्य के साथ दिव्य औरत ने कहा—
"जन-नायक !
इन बर्बरों को उन्मुक्त विचरने दो।
ये अपराधी हैं, पर अज्ञानी है !
खूंख्वार हैं, पर नादान हैं !
एक दिन ये स्वयं अपने पाप-बोध से अभिशप्त हो जायेंगे।
हजारों फन फैलाये, सींग उठाये
इनके पाप एक दिन स्वयं
इनसे भयंकर प्रतिशोध ले लेंगे।

बीकानेर — ८ अप्रेल, १९७६

तलाश एक औरत की

एक औरत लापता है। एक औरत लापता है।
ऐसे माहौल से घबराकर एक औरत लापता है।

मञ्चों से गरजते कण्ठों और वाणी की वीणा-झन्कारों से
तंग आकर एक औरत मुँह छिपाकर कहीं चली गयी है।
एक औरत लापता है। एक औरत लापता है।

सिगरेट के धुएँ में कोई सपना मुस्कराता नहीं।
चाय-कहवा की प्यालियों से कोई आकृति उभरती नहीं।
कारखानों-पाठशालाओं-दफ्तरों में चेहरे नज़र आते नहीं।
चेहरों पर चिपके है समझौते। खुशामदें चिपकी हैं
सुविधाओं से।

टयूब-मर्करी-नियॉन लाइटें अंधकार उगल रही हैं।
प्रेतात्माओं से घबराकर लोगों ने आँखें मूंद ली हैं।
माचिस की खाली डिब्बियों-से आदमी सड़कों पर चलते हैं।
पंख-कटी तितलियाँ फूलों का रस पाने की तरकीबें सोच
रही हैं।

ऐसे माहौल से घबराकर एक औरत लापता है।
एक औरत लापता है। एक औरत लापता है।

होठों को पालिश गालों की सफेदी में अर्थ नहीं बचा है।
निर्जीव छायाएँ अपनी औपचारिकताएँ ढोती हैं।

रजनीगंधा की खुशबू कब्रगाह पर मँडराती है।
अजगरों की सांसों से बँधे हुए लोग पार्कों में रोमांस
खोजते फिरते हैं।

जिन लोगों ने अंधे कोहरे को पहचानने का दावा किया था,
वे सब खुशामद-भरी याचिकाओं की रचना कर रहे हैं।
सिफलिस-हुई वेश्या से सम्भोग करते बौने
अपने पुरूषत्व की घोषणाएँ कर रहे हैं।

ऐसे माहौल से घबराकर एक औरत लापता है।
एक औरत लापता है। एक औरत लापता है।

जिन लोगों ने बुत बनने से इन्कार किया था,
उन्हें समवेत स्वरों से गद्दार घोषित किया जा चुका है!
जिस उंगली में संकेत करने की क्षमता थी,
उसे हीरों-जवाहिरातों की अंगूठियों से सजा दिया गया है!
जो लोग अस्थि-दान से वज्र बनाने के सपने ले रहे थे,
उनकी अस्थियाँ व्यापारिक तरीकों से खरीदी जा चुकी हैं!

किसी-न-किसी तरह के मर्फिया इन्जेक्शनों से
संज्ञा-हीन किया जा रहा है तनी हुई मुट्ठी को।
(लाशों में संज्ञा और सम्बोधन खोजे जा रहे हैं!)
उधर खेतों में भूख उग आयी है मेड़ों पर बिखरीं
जानवरों की लाशों पर चोंच मारते हुए गिद्ध और
डोम कौए मुटा रहे हैं।

ऐसे माहौल से घबराकर एक औरत लापता है।
एक औरत लापता है। एक औरत लापता है।

तहखानों में चाँद-सूरज को कैद करके कुछ लोग
लोगों को रोशनी को पाने की दिशाएँ बता रहे हैं।

नानक-कबीर की वाणियाँ बोल रहे हैं दुर्योधन–दुःशासन।
रामायण-भागवत बाँच रहे हैं रावण और कंस।

सभ्यता-संस्कृति-लोकगीतों के बोलों से उड़-उड़कर
कुछ अफ़ीम के दानें हवाओं में तैर रहे हैं।
पेशेवर जोंकों ने दलबन्दी के रंग-बिरंगे सूट
सिलवा लिये हैं।
खटमल और भेड़िये सामूहिक स्वरों में राष्ट्र-गीत गा रहे हैं।
संविधान के प्रति वफ़ादार रहने की शपथ खा रहा है एक
आदमी,
जिसका कोई ईमान नहीं है।

हर पाँचवें वर्ष वे फेंक जाते हैं कुछ सपनें।
भीड़ उन्हें चाटती है। चाटते-चाटते सो जाती है।
किसी की बन्द मुट्ठी से कोई सपना फिसल जाता है।
वह आदमी स्वप्न-भंग की बेहोशी में चिल्लाता है।
दो-चार हाथ हवाओं में छटपटाते हैं।
फिर सब यथावत् हो जाता है।

ऐसे माहौल से घबराकर एक औरत लापता है।
एक औरत लापता है। एक औरत लापता है।

●

वह औरत एक सुनसान क़ब्र पर दोनों हथेलियों में सिर थामे
अकेली बैठी रो रही थी। वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी
"मैं द्रौपदी नहीं, सीता हूं।
चाहो तो मेरी अग्नि-परीक्षा लेकर देख लो!

वे मेरे सतीत्व को जुए की भेंट चढ़ा रहे हैं ।
मैं पागलों की बहक सुनते-सुनते तंग आ गयी हूं ।
उन्हें कहो कि मेरा पीछा छोड़ दें ।
मुझे नहीं चाहिए रेशमी परिधान ।
कंगन । जवाहिरात । हीरों के हार ।
साड़ियाँ । दुशाले । कर्ण-फूल और पायलें ।

"मुझे रोमांस नहीं, रचना चाहिए ।
मुझे सपने नहीं, शब्द चाहिए ।

"यदि यह नहीं हो सके तो उनसे कह दो—
मेरा पीछा छोड़ दें । मुझे निर्वासित रहने दें ।
उनके माहौल में मेरा दम घुटता है ।"

बीकानेर

१६ मई, १६६६

भेड़ें और बकरियाँ

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
कब तक, आखिर कब तक,
तुम मिमयातीं, चिरियातीं,
एक-दूसरी का अनुगमन करतीं,
यों गहरे कुएं में उतरती रहोगी ?

कब तक, आखिर कब तक
यों संरक्षण-हीन,
इस वीरान डरावने जंगल में
तुम गुमराह भटकती रहोगी ?

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
तुम्हारा मालिक गड़ेरिया
तुम्हें जंगली-खूंख्वार जानवरों की
आसान पहुंच में
शिकार-होने-लायक स्थिति में डालकर
राजप्रासाद में घुस गया है !

उधर चीता चोर की तरह
घात लगाये बैठा है !
भेड़िया पहाड़ से झांक रहा है !
हाथी नदी किनारे चिंघाड़ रहा है !
शेर सीना ताने दहाड़ रहा है !

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
तुम्हारे मालिक गड़ेरिये को
अब तुम्हारी परवाह नहीं रही ।
उसने तुम्हारी सारी ऊन काटली है,
और छिपे तौर पर तुम्हारे खिलाफ़
खूँख्वार जानवरों से संधि करली है !
जंगली जानवर
तुम्हारे प्यारे गड़ेरिये के साथ
गुप्त तहख़ानों में बैठकर
सलाह-मशविरा करते हैं, और
तुम्हारे भक्षण के कुचक्र रचते हैं !

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
तुम्हारा मालिक गड़ेरिया
चेहरे की ग़रीब मुद्राएँ उतार कर
क़ानून बनानेवाली सभाओं का
रौबीला सदस्य बन गया है !

तुम्हारी रक्षा करने के लिए
तुम्हारे मालिक गड़ेरिये ने
जिन शिकारी कुत्तों को
तुम्हारे पहरे पर छोड़ा था,
वे सब
घात लगाते भेड़ियों,
दहाड़ते शेरों,
चिंघाड़ते हाथियों,
जीभ लपलपाते तेंदुओं
और रीछों के
गुप्त जासूस बन गये हैं ।

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
तुम्हारा प्यारा गड़ेरिया,
जो कभी तुम्हें
बांसुरी की मीठी तान सुनाकर
रिझाया करता था,
आज तुम्हारी बदबूदार सूरत
देखने से कतराता है !
तुम्हारी मिमियाहट, चिरियाहट से
नफ़रत करता है !
इसलिए उसने खूंख्वार जानवरों के साथ
तुम्हारे अस्तित्व का सौदा कर लिया है।

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
अब तुम्हारी खाल उतारी जायेगी,
और बड़े-बड़े जानवरों की गुफ़ाओं में
गलीचों के रूप में
उसकी प्रदर्शनी सजायी जायेगी !

प्यारी भेड़ो और बकरियो !
कब तक, आख़िर कब तक,
तुम मिमयातीं-चिरियातीं,
एक-दूसरी का अनुगमन करतीं,
यों गहरे कुएं में उतरती रहोगी ?

बीकानेर

६ सितम्बर, १९७४

रक्त-सने हस्ताक्षर

अपनी हत्या मैंने खुद की है।
खूब सोच-समझकर।
ये मेरे रक्त-सने हस्ताक्षर हैं।

एक अन-चाहे बोझ को ढोना,
और ज़िन्दा होने का ढोल बजाना
कोई ज़िन्दगी नहीं है।
ज़िन्दगी-भर ज़िन्दगी से जूझना,
और मौत को ज़िन्दगी की तरह पूजना
कोई ज़िन्दगी नहीं है।

एक आकार-हीन लाश को लिये हुए घूमना
खौफ़नाक दृश्यों के समीप से गुजरना,
हसीन फ़रेबों, मित्रता-पूर्ण षडयंत्रों, और
कपटी संस्कारों में साँसें गिनना,
खुशामद और चापलूसी की चपेट में कराहना,
अधूरे उदरों, निरीह आँखों, टूटे जिस्मों का सामना
करना,
और इन सबको ज़िन्दगी कहना
कोई ज़िन्दगी नहीं है।

नफ़रत। नफ़रत। घोर नफ़रत।
भाषा जिसे कह नहीं सके,
मर्यादाएँ सह नहीं सकें।

मौत कोई वरण-लायक औरत नहीं है।
वह पत्नी नहीं बन सकती।
हो सकता है वह ज़िन्दगी से कम भयानक हो!
एक ऐसी प्रेमिका हो, जो जिस्म को राहत दे सके!
ज़िन्दगी तो रोग-ग्रस्त मक्कार वेश्या है।

देश के नक्शे पर कोई सोने की चिड़िया नहीं है।
चन्द फूले हुए, फैले हुए उदर हैं,
और पिचके हुए निचुड़े हुए गाल हैं।
मेरे इतिहास ने पूरी कौम का पुरुषत्व छीन लिया है!
धर्म ने मेरे स्वरूप की अनेक हत्याएँ की हैं
ईश्वर के नाम पर।
परिवार भरता रहा है मेरे खून में पानी,
फेफड़ों में तपेदिक।
परम्परा चाटती रही है मेरी चेतना के तल।

यह कोई रहने लायक,
कहने लायक,
सहने-लायक
ज़िन्दगी नहीं है।
अपनी मौत का गवाह मैं खुद बनता हूँ।
ये मेरे रक्त-सने हस्ताक्षर हैं।

बीकानेर

८ अगस्त, १९६९

रचना का जन्म

जब-जब लिखने बैठता हूँ,
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

सारा अस्तित्व
एक अप्रत्याशित रोमाञ्च से तरंगित हो जाता है।
दिमाग के पर्दे पर
भूली-बिसरी यादों के
छाया-चित्र उतरने लगते हैं।
बीते दिन पहाड़ की तरह सामने खड़े हो जाते हैं।
आँखों में सूरज उतर आता है।
नस-नस में विस्फोट होने लगता है।
शिराओं में गर्म लावा भर जाता है।
पिघले हुए लोहे की तरह
शब्द पन्नों पर फैल जाते हैं।
एक-एक क्षण
एक-एक अवधि बन जाता है।

जब-जब लिखने बैठता हूँ,
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

ऐसे समय कोई बदशक्ल,
कोई बेईमान चेहरा
मेरे सामने आने का साहस नहीं करता।
गरदन-झुकाये सारे विलेन
हाथ-बँधे अपराधियों की तरह
रचना के दरबार में खड़े हो जाते हैं।
सारे शिखंडी
राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय आवरणों से
नंगे हो जाते हैं।

आदमी और आदमी के
फासले सिमट जाते हैं।
कपटी गिद्ध लाशों से हट जाते हैं।
चींटियाँ शव घसीटना छोड़ देती हैं।
बिच्छू का डंक कट जाता है।
साँपों की विषैली थैलियाँ फूट जाती हैं।

अपना बोझ, अपना दर्द
सबका बोझ, सबका दर्द—बन जाता है।
मेरा "मैं"
और तुम्हारा "तुम"
पीछे छूट जाते हैं।
समूचा आदमी कागजों पर उतर आता है।

जब-जब लिखने बैठता हूँ,
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

बीकानेर

५ जुलाई, १८

समर-संकल्प—एक
(ऐतिहासिक सन्दर्भ में एक आत्म-सम्बोधन)

चाणक्य की खुली शिखा
इस प्रतीक्षा में है
कि उसकी आंतरिक आग का प्रतिनिधि
कोई चन्द्रगुप्त
कभी–न–कभी
नंद-वंश को समूल नष्ट करके
उसके अपमानों की ज्वालाओं का
शमन कर देगा।

चाणक्य !
तेरी तेजस्वी प्रतिज्ञा
तब तक अधूरी है,
जब तक
तेरे अपमानों की पूर्णाहुति के रूप में
नंद-वंश के ऐश्वर्य का सम्पूर्ण खिलवाड़,
नंद-साम्राज्य की सम्पूर्ण सैनिक-शक्ति,
और नंद-वंश की
विष-कन्याओं के सारे षड्यंत्र—
तेरे हृदय के धधकते यज्ञ-कुण्ड में
स्वाहा न हो जायें !

चाणक्य ! उठो,
अपने तेज का आह्वान करो !
अपनी आग को अभिव्यक्ति दो !

समर-संकल्प—दो
(पौराणिक सन्दर्भ में एक आत्म-सम्बोधन)

अर्जुन !
किसने कहा कि ये तुम्हारे कुटुम्बी जन हैं ?
कौन कहता है
कि पशु भी पारिवारिक होते हैं ?
तुम्हें यह मति-भ्रम कैसे हुआ !
कि शत्रु स्नेही बन्धु हैं ?

पार्थ !
बिना युद्ध लड़े
सुई की नोक-भर धरती न छोड़नेवालों को
रक्त-सम्बन्धी समझने में
कौन-से दर्शन का
गरिमा-आदर्श है ?

धनुर्धर !
कुटुम्बी जन
कपटी पांसों के प्रपञ्च से
सगे बान्धवों को
पतन की पराकाष्ठा तक
कैसे पहुंचा सकते हैं ?

रक्त-सम्बन्धी
अपने भाइयों पर
निर्वासन का आदेश
कैसे आरोपित कर सकते हैं ?

पारिवारिक लोग
अपने स्नेहियों के निमित्त
लाक्षागृहों का निर्माण कैसे कर गये ?

वंशजों ने भरे दरबार में
तुम्हारी साक्षात् मर्यादा के
चीर-हरण का कुचक्र कैसे रचा ?

धनञ्जय !
शत्रुओं को स्नेही समझने का मोह
मन की क्षय-ग्रस्तता के अतिरिक्त
और क्या है ?

देखने-सुनने की क्षमता के बावजूद भी
आश्चर्य है भरतवंशी !
कि तुमने, अपने गाण्डीव में लय-बद्ध
ललकार को नहीं सुना ?
कि तुमने रथ के पहियों में कैद
व्यग्र गति के दर्शन नहीं किये
कि तुमने शंखनाद में अंतर्निहित
जयकार की प्रतिध्वनि नहीं समझी !
कि मन के कोहरे को भेदनेवाली
कृष्ण की गीता नहीं समझी !

महाबाहो !
सियारों के सम्मुख
शेर को समर्पित देखकर
तुम्हारा सारथी और सखा
न केवल लज्जित, बल्कि विस्मित भी है

पार्थ !
अनुनय-विनय की भाषा में नहीं,
गीता के युद्ध-श्लोकों में
तुम्हारा सारथी
तुम्हें धनुष की शपथ के साथ
युद्ध के लिए ललकार रहा है !

अर्जुन !
अन्याय के सम्मुख
वैराग्य का अर्थ नपुंसकता है।
दुष्टता के प्रति बन्धुत्व का मोह
अस्मिता की अंतिम क्षति है !

समय ने कर्म-हीन सत्य सियों को
कब सम्मानित किया है कुन्ती-पुत्र ?

पार्थ !
जो मृत हैं,
वे जीवित को मृत घोषित कर रहे हैं,
और जीवित
मोह की मृत्यु-पीड़ा के वशीभूत होकर
मरे हुओं से भयभीत है !

अपनी भुजाओं को
शर-सन्धान के लिए
सन्चालित करो धनुर्धर !
नहीं तो कपटों के व्यापारी
तुम्हारे धनुष और बाण को भी
दांव-पेच की नीलामी पर चढ़ा देंगे।

अर्जुन !
मोह के आवरण में
आज यदि तुम
स्वयं से ही अदृश्य रहे
तो कल के सूर्य का रथ
तुम्हारी जीवित देह को मृत मानकर
तुम्हें रौंदता हुआ आगे बढ़ जायेगा,
और मानव-इतिहास में
तुम्हें देह-धारी मुर्दे के रूप में
कलंकित छोड़ जायेगा !

बीकानेर

१६ जून, १९७६

समर-संकल्प—तीन

(पौराणिक सन्दर्भ में एक आत्म-सम्बोधन)

विश्वामित्र !
सिद्धाश्रम में शिथिल बैठे-बैठे,
वेद-मंत्रों के उच्चारण के साथ,
किस अवधि तक, किस कल्प तक
तुम यज्ञ-कुण्ड में
समिधाएँ प्रज्वलित कर सकते हो ?

ब्रह्म-ऋषि !
मन की दिव्य आँखें बन्द करके
तनिक बाहर की ओर झाँको,
और देखो
कि सुबाहु-मारीचि-ताड़का ने
सिद्धाश्रम के पावन तपोवन में
रक्त-सनी अस्थियाँ,
चर्म-हीन नर-कंकाल, और
आमिष-अंश बिखेर दिये हैं।

महर्षि !
राक्षस-समाज सुसंगठित,
और सुनियोजित है।
उनके पास षडयंत्रकारी दांव-पेच,
अमर्यादित धन,
बर्बरों का एक विशाल समूह,
और पवन-वेग-भरे
भयंकर हथियार हैं।

देव-ऋषि !
अगर यज्ञ-कुण्ड में

निर्विघ्न पूर्णाहुति के साथ
स्वाहा का उच्चारण करना हो,
तो राम और लक्ष्मण के धनुष-पौरुष,
और शस्त्रों की टंकार की आवाज़ दो,
वेद-मंत्रों की जगह
जन-मानस को जय-घोष की वाणी दो !

एक संकल्प के साथ
आंतरिक परिवेश की शिथिलता से
बाहर निकलकर
अपने बाह्य परिवेश को सम्बोधन दो।

शठे-शाठ्यं-समाचरेत की
शब्द-ध्वनि के साथ,
राक्षसों के बीज का
सम्पूर्ण उन्मूलन करने के लिए
युद्ध-रत होने का संकल्प लो।

विनयशील रहना
तुम्हें शोभा नहीं देता विश्वामित्र !
क्योंकि युद्ध के सन्दर्भ में
क्षमा कायरों का आभूषण है !
क्षमा उस पहाड़ को ही शोभा देती है,
जिसमें तूफ़ानों–बवंडरों–झंझावातों से
जूझने की शक्ति है,
तथा जिसके हृदय में
असंख्य पेड़ों–पौधों, फूलों–कलियों को
पुष्पित–पल्लवित करने की करुणा है।

बीकानेर १७ जून, १

बे-इलाज दर्दे-दिल

मेरा दर्द कोई नहीं जानता।
लोगों के पास जैसे कोई दर्द ही नहीं है,
या फिर उनके पास हर दर्द की दवा मौजूद है!
मेरे पास एक ही नहीं,
दो-दो तरह का दर्द है—
एक अपना। एक पराया।
और मेरा मर्ज कुछ ऐसा है,
जिसकी कोई दवा नहीं है।

यहाँ लोग घृणा करते हुए भी
प्यार कर लेते हैं!
साथ निभाने की कसमें खाकर
वीरान रास्तों पर गला घोंट देते हैं!
एक-दूसरे की उम्र के लिए पैमाने छलकाकर,
अवसर मिलते ही,
एक-दूसरे का सफ़ाया कर देते हैं!
मेरी मुसीबत यह है कि मैं
एक समय में केवल एक काम ही कर सकता हूँ।

लोग पीठ पर निशां चिपकाकर
चेहरों पर खुशामदें जड़ देते हैं!
वे शब्दों को सिगरेट के छल्लों की तरह
हवा में उड़ा देते हैं!

सम्बन्धों को चश्मों की तरह
आँखों पर चढ़ा लेते हैं !
मैं लाख प्रयत्न करता हूँ,
पर शब्दों को केवल सही अर्थों में ही भोग पाता हूँ

इस विशाल नगरी में मैं
बेघरबार हूँ !
ग़लत समय के ग़लत नियमों का शिकार हूँ
लोग सब अपने-अपने घरों में हैं,
मेरा कोई घर नहीं है ।
इस अजनबी मुल्क में
मेरे लिए न कोई सराय है;
न धर्मशाला ।
किसी खिड़की से साथ निभाने का
विश्वास नहीं,
किसी दस्तक के भरोसे
जिन्दा रहने का स्वप्न नहीं ।

सगे-सम्बंधियों के विशाल जुलूस में
मेरे लिए एक भी चेहरा नहीं है।
जो चेहरे नजदीक आने की कोशिश करते
उनके आस-पास
घृणा या मक्कारी की बदबू फैलती है ।
एक-एक विश्वास टूट जाता है;
और टूटे जिस्म से
एक दरद-दिवानी की यह पंक्ति
सहमी-सहमी उभर आती है—

"हेरी मैं तो दरद-दिवानी,
मेरो दरद न जाने कोय।"

एक शायर ने भी
दर्दे-दिल की दवा खोजनी चाही थी,
उसको कोई दवा नहीं मिली।
उस शायर के पास
कितनी तरह का दर्द था ?

मैं ऐसी निकम्मी बातें क्यों सोचता हूँ ?
लोग केवल काम की बातें सोचते हैं।
काम की बातें, करते हैं।
घोड़े को चाचा, गधे को भाई,
बछिया को बुआ,
और खच्चर को भतीजा कहते हैं !
मैं जानवर को जानवर कहता हूँ,
और जानवर की दुलत्ती खाकर
दर्दे-दिल की दवा खोजता हूँ !

जब कभी अपने को दूसरा रंग देता हूँ,
मेरी हर अदा बागी हो जाती है।
हर मुद्रा विद्रूप हो जाती है।
नकली स्वरूप असली स्वरूप पर
बेरहमी से सवार हो जाता है।
इसलिए हर बार जुड़ना चाहकर भी
मैं हर बार बिखर जाता हूँ।
मेरा मर्ज ही कुछ ऐसा है,
जिसकी कोई दवा नहीं है।

बीकानेर

१८ मई, १९७

हमसफ़र कवि के नाम

जब मैंने कहा—
इस देश मे कविता लिखना एक तपस्या है—
तो मेज के चारों ओर बैठे ढेर-सारे लोग
हो-हो कर हँसने लगे ।
कइयों ने कहा—छायावादी ।
कइयों ने—पुरातनपन्थी ।
मेरी चेतना का अतीत से सम्बन्ध जोड़नेवाले
मुद्दे की बात छोड़ गये ।

मैंने कहा—कविता एक बंजर औरत है ।
नहीं देती दूध। चाय। डबल रोटी। स्वेटर। अखबार।
कविता से नहीं मिलती है जीविका और सम्पन्नता।
कविता एक कंगाल माँ है ।
कविता की खेती करने से बेहतर
सहकारी खेती करना है ।
अखबार में कविता निकलवाने से अच्छा
लॉटरी का टिकिट खरीदना है,
हो सकता है कोई दबा हुआ भाग्य-फल
पत्थर की छाती चीरकर भड़क आये !

परिवार-नियोजन के लिए
भंग की नसबन्दी जरूरी है,

और कविता-नियोजन के लिए दिमाग़ की।
कविता से अवकाश काटने से बेहतर
अवकाश को बाँस की चम्दी से काटना है,
और आदमी बनना है।

गालियाँ देने से ही यदि कुछ हासिल होता
तो सभी लोग सबसे पहले यही कला सीखते !
जाने तुम ही यह बात क्यों नहीं समझ पाये
कि गालियाँ पेट के हाजमे को नष्ट करती हैं।
यह जो तुम तरह-तरह की गालियाँ घड़ रहे हो
देश के लिए और मौसम के लिए,
परिवेश के लिए और व्यवस्था के लिए—
आख़िर इसका अंजाम क्या है ?
मुझे तो लगता है कि तुमने गालियों को
नशे की गोलियाँ समझ लिया है,
और नशेबाजों की तरह पाँवों के नीचे से
ज़मीन को चक्कर खाते देख रहे हो !
लेकिन तुम्हारी ये गुस्सेवाली गालियाँ
तुम्हारी टाँगों को कोई टेरेलिन की पैंट नहीं देंगी।
दरअसल ये तुम्हारी गालियाँ ही हैं,
जिन्होंने तुम्हारे मुख से तुम्हारे पेट तक जानेवाली
सारी सड़कों की नाकेबन्दी करदी है।

कविताएँ लिखकर तपस्वियों की मुद्रा में
सस्ते होटलों में बहसें करना आसान है।
नये-नये मुहावरों के पाँसों से
अपने दोस्तों का मखौल उड़ाते हुए
शकुनि के दाँव लगाना आसान है।

तुम इसे कहते हो चर्चा-परिचर्चा,
और लोग इसे कहते हैं मानसिक व्यभिचार !

तुम अगर दुनियादारी को समझ सको
तो केवल यह एक उदाहरण
तुम्हारे मानसिक विकास के लिए
सर्वोत्तम सिद्ध होगा
कि क्लास-रूम लेक्चर से पहले
अपने बॉस की चम्पी करनेवाले
पीरियड की चखचख से बच जाते हैं।
और निरंतर रूप से
अपनी चर्बी बढ़ाते हैं।
जो लोग हर तरह के बॉस की
कुर्सी बन जाते हैं,
वे लम्बी उम्र पाने की चाभी पा जाते हैं।

चम्पी की भी एक दार्शनिकता है,
जो चन्दा-हजम-चूरण के
सिद्धांत समझाती है,
और जिससे
कठोर-से-कठोर अखाद्य सामग्री भी
बड़ी आसानी से पच जाती है।
गाली सामी सिर पचाती है।
यह लोकोक्ति भी है
कि गाली आदमी को जानवर बनाती है।

तुम भी चाहो तो आदमी बन सकते हो,
अगर तुम किसी नेता की पैंट,
या किसी अफसर की पत्नी को

साड़ी बन सकते हो !
अगर तुम कुछ आदतें बदल डालो
तो तुम्हारे भी बुश्शर्ट बदल सकते हैं।
किसी आलीशान होटल के चमचमाते फ़र्श पर
डांस के लिए तुम्हें भी
नित नयी पार्टनर मिल सकती है।

पर बोलो—क्या तुम उस छिनाल औरत का
साथ छोड़ सकते हो,
जिसे मैं कहता हूँ वेश्या,
और तुम कहते हो आत्मा-वात्मा ?
ऐसा ही कोई बेकार-सा नाम !

इस छिनाल औरत को
नये-नये सम्बोधनों से
सज्जित करने से अच्छा है
कि बॉस की पत्नी की मुस्कान के लिए
एक उपमा खोजो,
जिसमें उनका श्याम वर्ण
चन्द्र-किरण को मात दे सके !

जिन्दगी भी एक नशा है,
अगर तुम में
नशेबाज होने की तमीज़ हो !

पर तुम मेरी बात नहीं मानोगे;
और इस कला-बला के मोह में फँसकर
खुद को अकाल बना लोगे !

तुम अपने को कलमकार कहते हो।
क्या तुम्हें पता है कि कलम का सही प्रयोग
किसी वी.आइ.पी. के गार्डन में
कलमें लगाने से ही सिद्ध हो सकता है?

अपने सौन्दर्यवादी रूख की प्रतिष्ठा के लिए
क्या तुम किसी सौन्दर्य-हीन मंत्री के कमरे में
आधुनिक पेंटिंग की
तस्वीरें टांग सकते हो?

अगर ऐसा कुछ नहीं कर सकते
तो फिर
डाक-टिकिट जमा करने जैसी
कोई एक हॉबी पाल लो,
और कुछ सचय हो जाये तो उसे
स्वामी के कदमों में डाल दो!

इस बात को गाँठ बांध लो
कि उस छिनाल औरत के चक्कर से निकलना
तुम्हारे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए
सर्वोत्तम सिद्ध होगा।

अगर तुम कलम का प्रयोग
छोड़ ही नहीं सकते,
तो उसे चलाओ किसी मजदूर की खुरपी की तरह,
किसी धुनिया की धुनकी की तरह—
ताकि सुबह की खेती शाम को कट सके।

साड़ी बन सकते हो !
अगर तुम कुछ आदतें बदल डालो
तो तुम्हारे भी बुश्शर्ट बदल सकते हैं।
किसी आलीशान होटल के चमचमाते फर्श पर
डांस के लिए तुम्हें भी
नित नयी पार्टनर मिल सकती है।

पर बोलो–क्या तुम उस छिनाल औरत का
साथ छोड़ सकते हो,
जिसे मैं कहता हूँ वेश्या,
और तुम कहते हो आत्मा-वात्मा ?
ऐसा ही कोई बेकार-सा नाम !

इस छिनाल औरत को
नये-नये सम्बोधनों से
सज्जित करने से अच्छा है
कि बॉस की पत्नी की मुस्कान के लिए
एक उपमा खोजो,
जिसमें उनका श्याम वर्ण
चन्द्र-किरण को मात दे सके !

जिन्दगी भी एक नशा है,
अगर तुम में
नशेबाज होने की तमीज़ हो !

पर तुम मेरी बात नहीं मानोगे;
और इस कला-बला के मोह में फँसकर
खुद को अकाल बना लोगे !

तुम अपने को कलमकार कहते हो ।
क्या तुम्हें पता है कि कलम का सही प्रयोग
किसी वी.आइ.पी. के गार्डन में
कलमें लगाने से ही सिद्ध हो सकता है ?

अपने सौन्दर्यवादी रुख की प्रतिष्ठा के लिए
क्या तुम किसी सौन्दर्य-हीन मंत्री के कमरे में
आधुनिक पेंटिंग की
तस्वीरें टांग सकते हो ?

अगर ऐसा कुछ नहीं कर सकते
तो फिर
डाक-टिकिट जमा करने जैसी
कोई एक हॉबी पाल लो,
और कुछ संचय हो जाये तो उसे
स्वामी के क़दमों में डाल दो !

इस बात को गाँठ बांध लो
कि उस छिनाल औरत के चक्कर से निकलना
तुम्हारे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए
सर्वोत्तम सिद्ध होगा ।

अगर तुम क़लम का प्रयोग
छोड़ ही नहीं सकते,
तो उसे चलाओ किसी मज़दूर की खुरपी की तरह,
किसी धुनिया की धुनकी की तरह—
ताकि सुबह की खेती शाम को कट सके ।

साड़ी बन सकते हो !
अगर तुम कुछ आदतें बदल डालो
तो तुम्हारे भी बुश्शर्ट बदल सकते हैं।
किसी आलीशान होटल के चमचमाते फ़र्श पर
डांस के लिए तुम्हें भी
नित नयी पार्टनर मिल सकती है।

पर बोलो—क्या तुम उस छिनाल औरत का
साथ छोड़ सकते हो,
जिसे मैं कहता हूँ वेश्या,
और तुम कहते हो आत्मा-वात्मा ?
ऐसा ही कोई बेकार-सा नाम !

इस छिनाल औरत को
नये-नये सम्बोधनों से
सज्जित करने से अच्छा है
कि बॉस की पत्नी की मुस्कान के लिए
एक उपमा खोजो,
जिसमें उनका श्याम वर्ण
चन्द्र-किरण को मात दे सके !

जिन्दगी भी एक नशा है,
अगर तुम में
नशेबाज होने की तमीज़ हो !

पर तुम मेरी बात नहीं मानोगे;
और इस कला-बला के मोह में फँसकर
खुद को अकाल बना लोगे !

तुम अपने को कलमकार कहते हो ।
क्या तुम्हें पता है कि कलम का सही प्रयोग
किसी वी.आइ.पी. के गार्डन में
कलमें लगाने से ही सिद्ध हो सकता है ?

अपने सौन्दर्यवादी रूख की प्रतिष्ठा के लिए
क्या तुम किसी सौन्दर्य-हीन मंत्री के कमरे में
आधुनिक पेंटिंग की
तस्वीरें टांग सकते हो ?

अगर ऐसा कुछ नहीं कर सकते
तो फिर
डाक-टिकिट जमा करने जैसी
कोई एक हॉबी पाल लो,
और कुछ सचय हो जाये तो उसे
स्वामी के कदमों में डाल दो !

इस बात को गाँठ बांध लो
कि उस छिनाल औरत के चक्कर से निकलना
तुम्हारे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए
सर्वोत्तम सिद्ध होगा ।

अगर तुम कलम का प्रयोग
छोड़ ही नहीं सकते,
तो उसे चलाओ किसी मज़दूर की खुरपी की तरह,
किसी धुनिया की धुंनकी की तरह—
ताकि सुबह की खेती शाम को कट सके ।

हो-हो कर हँसते हुए दोस्तों से
मैंने अंत में कहा—
इस देश में लेखक एक ऐसा खेत है,
जो एक लम्बे अकाल के बाद लहराता है,
लहराते ही मालिक मर जाता है,
फिर कोई संत सम्पादक
या ज्ञानी प्रकाशक
हरी-भरी फसल चर जाता है !

इसलिए इस देश में
कविता लिखना या तो एक तपस्या है,
या फिर कैदी पंखों की
एक मूर्खता-पूर्ण छटपटाहट !

जयपुर १७ अक्तूबर, १९७०

दो सूरजों के बीच

मैं अस्त-होते सूरज को गाली नहीं बकता हूँ,
न उदय-होते सूरज को प्रणाम करता हूँ।
मैं यह साफ़-साफ़ जानता हूँ
कि उदय होने की नियति अस्त होना है।

मैं अस्त-होते सूरज को श्रद्धा के साथ विदा देता हूँ,
मैं उदय-होते सूरज के साथ क़दम मिलाकर चलता हूँ।
मैं हो-चुके और हो-रहे के बीच
सन्धि-रेखाओं को पहचानने की कोशिश करता हूँ।

मेरा यह प्रयास भी रहता है
कि धरती और आकाश के बीच
क्षितिज की कोई सम्भावना जन्म ले सके!

मैं चाहता हूँ कि व्यतीत-होती दोपहर
और जन्म लेती सुबह
एक-दूसरे को समझने का श्रम करें,
और पहचानें
कि एक तटस्थ, निर्मम काल-पुरुष,
जिसे इतिहास कहते हैं,
सारे पक्षों की दलीलें सुन रहा है,
लेकिन वह एक ऐसा न्यायाधीश है,
जो समयातीत है,
और अंतिम फ़ैसला
जिसकी क़लम की नोक में बन्द है।

बीकानेर

२२ जनवरी, १९६९

अपराजेय अस्तित्व

भीष्म से शिखंडी को भिड़ाकर
ओट से
भीष्म का वध करनेवालों ने,

बालि से सुग्रीव को भिड़ाकर
ओट से
बालि का वध करनेवालों ने

सोचा था कि उनकी पौराणिक भव्यता,
और सुप्रसिद्ध चारित्रिकता की
ओट में
उनके छद्म और कुचक्र
आवृत ही पड़े रहेंगे !

वे इस ऐतिहासिक सत्य को भूल गये,
कि समय का अंतराल
परिभाषाएं बदल देता है,
नकली भव्यता को
उद्घाटित कर देता है !

पुराण-सिद्ध
इस ऐतिहासिक सत्य से अनभिज्ञ
क्षुद्र लोग

समूह बना-बना कर
आदमी के अस्तित्व के खिलाफ़
कुचक्रों के जाल हमेशा बिछाते आये हैं।

परिणति हमेशा यह हुई है
कि उनकी मुखौटाधारी कुरूपता
अनावृत होती गयी है।
रहस्यों के पर्दे
हमेशा उघड़ते गये हैं।

साजिशें आती हैं, चली जाती हैं।
प्रामाणिक आदमी
अपने अपराजेय अस्तित्व के साथ,
अपनी ज़मीन पर,
हिमालय की तरह अडिग खड़ा रहता है।

बीकानेर

१२ अगस्त, १९७५

विकास-चरण

भावना बदल गयी भटकन में,
और विश्वासों से चिपक गये हैं घात;
सड़कों पर आ गये पर्दों के रोमांस,
और घावों पर छिड़का जा रहा है
खुले-हाथ नमक।

दिलों में बैठ गयी हैं लोमड़ियाँ,
और आँखों में झांकने लगी बिल्लियाँ;
चेहरों पर हिलने लगी है कुत्तों की दुम,
और हौंसलों को चाट गयी गीदड़ी कायरता।

नीति में मिल गया 'कूट',
और खून में मिल गयी खराबी;
मैञ्च पर सम्मानित है नकल,
और नेपथ्य में घुट रहा सत्य।

आत्मा से जुड़ गयी हत्या,
और आदर्शों में मिल गये अनाचार;
उन्नति की अड़चनें हैं ईर्षाएँ,
और मिलन-हवन बन गये तिजारत।

सचमुच अब शहर जवान हो गया है!
नगर नहीं, महानगर हो गया है!

उदयपुर — १८ दिसम्बर, १९७६

अस्तित्व का प्रश्न

एक कौए को पंजों में दबाये
एक दूसरा कौआ
चोंच मार-मार कर
उसे खत्म कर देना चाहता था।

शिकार होनेवाला कौआ
पक्षाघात से घायल होकर
छटपटा रहा था।

शिकारी कौआ
किसी भी सजातीय करुणा से
अभिभूत नहीं था।
वह अपने शिकार के शरीर पर
घाव पर घाव करता जा रहा था।
शिकार-होनेवाला कौआ भी
रक्त के आखिरी कतरे तक
अस्तित्व के लिए छटपटा रहा था।

तभी एक आदमी उधर से गुजरा
दोनों का संघर्ष देखकर ठिठका।
उसे जैसे अपना प्राप्य मिल गया।
उसने शिकारी कौए को
ढेले मार-मार कर भगा दिया।

उसने शिकार-होनेवाले कौए को
प्यार से दुलराया–सहलाया।
वह उसे अपने घर भी ले आया।

लेकिन, वह सिद्धार्थ नहीं था।
वह एक शिकारी था।
अपने घर पर उसने
उस कौए को भूनकर
अपने और अपने बच्चों के
पेट में डाल दिया!

बीकानेर ६ सितम्बर, १६७०

काले चश्मेवाला अश्वारोही

मेज पर बिखरे कागज़ों पर
मेरी कलम की गति इतनी तेज हो गयी
कि काल के अश्वों की
वल्गाएँ टूटने लगीं !

रचना-लोक से प्रकट होते
मेरे दृश्यों और बिम्बों की
जीवंतता इतनी भास्वर हो उठी
कि समय के रथ की
धुरियाँ पिघलने लगीं !

मेरी आत्म-मुग्धता के क्षणों की
रोमांचकता को भंग करते हुए
मेरे दरवाजे पर
एक कठोर हाथ की थपथपाहट
सुनायी पड़ने लगी।

कलम को कागज़ों पर प्रतिष्ठित कर
कुछ कुढ़ते, कुछ बड़बड़ाते हुए
जब मैंने दरवाज़ा खोला तो पाया—
एक काले चश्मेवाला अश्वारोही
चेहरे पर व्यंग्य-मुद्रा धारण किये
भृकुटि में आक्रोशी बल डाले,

"दुनिया को स्वाधीन करने का चकमा देकर
उसे आजन्म पराधीन रखनेवाले,
और अपने षड्यंत्रों से
इतिहास के पृष्ठ बन जाने की
महत्त्वाकांक्षा पालनेवाले
कितने ही कपटी उद्धार-कर्त्ताओं की
भव्य मूर्त्तियों को
अपने एक ही पद-प्रहार से
मैंने धरा ध्वस्त कर दिया है।

मेरी इस हथेली पर फूंक पड़ते ही
शक्ति, साहस, और शौर्य की
चरम परिणतियां
चिन्दी-चिन्दी होकर मिट्टी में मिल जाती हैं।

"अपने चुल्लू में
समुद्रों का आचमन करनेवाला
सर्वशक्तिमान, सर्व व्यापक
मैं महाबली, इतिहास-पुरुष
तुम्हारे जैसे गर्वान्ध बौनों को
केवल अपनी कनिष्ठा के प्रहार मात्र से ही
धरती की धूल चटा सकता हूं।

"मैं अपराजेय काल,
शाश्वत समय-पुरुष
अपने तीर-से द्रुत गतिवाले
अश्वों की टापों से
राजप्रासादों को भग्नावशेषों में बदल देने का
चिर-संचित संकल्प लिये हूं।"

इतना कहकर
वह काले चश्मेवाला अश्वारोही थोड़ा रुका
और मेरी लघुता पर
एक विशाल अट्टहास कर उठा,
जिसने पोर-पोर तक मुझे
भीतर तक झकझोर डाला।

काले चश्मेवाले अश्वारोही की
भयावहता से धीरे-धीरे मुक्त होकर
एक अपूर्व संयम और आत्म-विश्वास के साथ
मैंने बोलना प्रारम्भ किया—

शब्द मेरे होठों से यों फूटने लगे
जैसे एक छोटा दरिया
रुकावटें पार करता हुआ
अपना मार्ग खोज लेता है—

"ऐ सर्वशक्तिशाली ! सर्वव्यापक !
ऐ चिर शाश्वत ! चिर महाबली !
तुम्हारी तुलना में अदना-सा ही सही,
पर अपने मानस में मैं
एक स्रष्टा का संसार सँजोये हुए हूँ।

"रचनाकार होने के नाते
तुम्हारे रचनाकार की रचना का
पुनर्निमाण करने का गुरुतर दायित्व
केवल मैं सँभाले हुए हूँ।

"मैं धूप का पक्षधर,
सूर्यवंशी

काले लबादों, काले रूमालों,
काली जुराबों, काले जूतों,
और काले शिरस्त्राणों की कालिमा को
अपने अक्षरों की ज्योति से
पराजित करने का दृढ़ निश्चय लिये हूँ।

"इतिहास की छाती पर पड़नेवाली
मेरी मसि की शब्द-छाप को
तुम्हारे अश्वों की टापें नहीं रौंद सकतीं।

'अश्वमेधी विजय गर्व-वालो
तुम्हारा सदियों से संचित चिर घमंड
इस देहरी की गर्मी से
मोम के ढेले की तरह पिघल जायेगा,
ऐ सर्वशक्तिमान ! सर्वव्यापक !
ऐ चिर-शाश्वत ! चिर महाबली !"

आत्म-विश्वास में रंगे-धुले
मेरे रचनाकारी-अहं से कुपित होकर
सर्वशक्तिमान समय-पुरुष ने
मेरे विरुद्ध एक मंत्र पढ़कर
मुझ पर एक ऐसी फूंक मारी
कि मेरी पार्थिव देह
खंड-खंड होकर
हजारों अंशों में बिखर गयी;
मेरी नन्ही देहरी
एक खंडहर में बदल गयी।

बुत की हत्या

["तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा"
.. मंत्र के इतिहासकार को सादर]

भरतवंशियो !
तुम्हारी स्वप्न-जीवी मासूमियत,
और ऋषि-तुल्य तटस्थता पर
अब न प्यार आता है, न गुस्सा
केवल आश्चर्य होता है !

आश्चर्य होता है कि
एक क़ौम किस क़दर
अपनी विरासत से अजनबी बन जाती है।

मनु-पुत्रो !
तुम जिसकी पूजा करते हो,
वह आदमी से बुत बन जाता है !
तुम उसके उपदेशों को
मंत्रों और श्लोकों की तरह
इतना भजते हो
कि बुत के नाम पर एक मठ खड़ा हो जाता है !

मठ बनाकर
तुम अपने बुत के मंत्रों को

भुलाना शुरू कर देते हो।
इस तरह तुम अपने ही मठ के
सबसे ख़तरनाक् दुश्मन बन जाते हो!
तुम्हारी पूजा और तुम्हारे आचरण के बीच
एक ऐतिहासिक अंतराल रह जाता है!

देश–बन्धुओ!
"तुम मुझे खून दो
मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा"—
मंत्र एक बार सभी दिशाओं से
प्रतिध्वनित होने लगा.
और एक इतिहास बनने लगा।
इतिहास की स्याही जब सूखी भी नहीं थी
कि तुमने इतिहास-पुरुष को
आदिम की देह से निकालकर
बुत की मूर्ति में प्रतिष्ठापित कर दिया,
और उसकी भाषा के नाम पर
एक मठ का निर्माण कर दिया!

मठ-निर्माण की
तुम्हारी काल-पोषित लत
जब पूरी हो गयी
तो तुम बुत और मठ—
दोनों के सबसे खतरनाक् दुश्मन बन गये!

खून और आज़ादी—
तुमने दोनों को समझा ही कब था!
दोनों के सम्बन्ध को
पहचाना ही कब था!

तप–धारियो !
खून के अर्थ को भुला देना
तुम्हारे अस्तित्व का सवाल बन गया था,
क्योंकि आज तुम्हारी धमनियों में
जो बह रहा है,
उस खून का रंग पानी है !

और इतिहास साक्षी है—
तुमने आज़ादी का मतलब
न तब समझा था,
न अब समझा है !

ध्यानस्थ ऋषियो !
तुम्हारा बुत परेशान है
कि तुम्हारे खून का रंग सफेद है !
तुम्हारा मठ लांछित है
कि तुम्हारी आज़ादी का अर्थ मिश्रित है !

'मिश्रित' शब्द
तुम्हारी चेतना का प्रतीक,
और आत्मा का बिम्ब बन गया है !
कारखानों से खलिहानों तक—
सड़कों से दूकानों तक—
संविधान से संसद तक
घरों से बाज़ारों तक
वादों से विचारधाराओं तक—
अन्न से अकाल तक
राजनीति से रचना तक

रिश्तों से आचरणों तक—
दफ्तरों से पार्टी-कार्यालयों तक—
अखबारों से आकाशवाणी तक—
परिधानों से पहचानों तक—
तुम्हारे खून का रंग सफेद है !
तुम्हारी आज़ादी का अर्थ मिश्रित है !

आर्य-पुत्रो !
तुम्हारी वह आदिकालिक काव्य-प्रतिभा
कहां विलुप्त हो गयी,
जिसने एक बार सारे संसार को
आश्चर्य में डाल दिया था ?

आज तुम कंकाल पशुओं की मृत देहों पर
पंख फड़फड़ाते दरिन्दा-गिद्धों को
प्रत्यक्ष देखते हो,
पर तुम्हारी कल्पना में अब वह आँच नहीं रही
कि कंकाल पशुओं की जगह
तुम नर-कंकाल आदमी की लाश देख सको,
और-दरिन्दा-गिद्धों की जगह
आदमी के रूप में मँडराते
विकराल जबड़ों और
पैने पंजोंवाले शैतान को पहचान सको !

ऋषि-पुत्रो !
जिस बुत की तुमने पूजा की थी,
उसके खून का रंग बहुत गहरा था।
उसका दाग इतिहास के पृष्ठों से
कभी उतरेगा नहीं।

पर तुम्हारे खून का रंग पानी है,
जो तुम्हारे इतिहास का दाग बन गया है !

मनु-पुत्रो !
आजादी का अर्थ न तो प्रवचन होता है,
न स्याही का प्रलाप ।
तुम्हारे बुत ने तुम्हें बताया था
कि आजादी का अर्थ खून होता है !

आज तुम्हारा बुत
मठ की क़ैद से बाहर निकल आया है,
खून का रंग पानी देखकर,
और आजादी का रंग मिश्रित देखकर
वह हाराकिरी के लिए चल पड़ा है ।

तुम्हारा यह बुत
उस दिन से पहले ही
आत्म-घात कर लेगा,
जिस दिन कंकाल पशुओं की जगह
नर कंकाल आदमी की लाशों का हुजूम
सड़कों-बाजारों-गलियों को पाट देगा,
और पंख फड़फड़ाते दरिन्दा गिद्धों की जगह
विकराल जबड़ोंवाले,
और पैने पंजोंवाले शैतान
उन आदिम लाशों को रौंद-रौंद कर
अपनी वहशी संस्कृति का
आदिम त्योहार मना रहे होंगे !

करौली   २३ जुलाई, १९७३

इतिहास की पुनर्रचना

राधे !
शरत्पूर्णिमा की यह चाँदनी रात,
और तुम्हारा नख-शिख शृंगार !
हृदय पर हीरों की चमक, और
कानों में कंचन के कर्ण-फूल !

सृष्टि के प्रारम्भ से
तुम्हारे रूप-सागर को
अपलक नैनों से
बूंद-बूंद पीता हुआ
मैं तुम्हारा चिर-चातक,
चिर-विमुग्ध कान्ह !

राधे !
शरत्पूर्णिमा आज भी
तुम्हारे चेहरे से झाँकती है।
शरीर से सौरभ फूटती है।
आँखों में यमुना लहरा उठती है।
अंग-अंग में चाँदनी बिखर जाती है।
श्वास-श्वास में चंदन महकने लगता है।
हेर रास-रास अब क्यों है।

तुम्हारी सम्पूर्ण देह-यष्टि
नशा-नशा बनकर
मुझ में वहक-चहक उठती है !

लेकिन राधे !
आज प्यार और व्यापार के बीच
कोई फासला नहीं रहा,
सपनों और गोरखधंधों के बीच
कोई अंतराल नहीं रहा !

मेरे साथी ग्वाले
खेतों या कारखानों में
श्रम वेचते घूमते हैं।
माखन गोदामों में कंद हो गया है !

राधे !
आँखों के नील गगन में
कल्पनाओं के राजहंस
अब कैसे उड़ सकेंगे,
उधर जरासंध और कंस ने
सभी राजहंसों के पंख काट दिये हैं ?

जहाँ द्रुपदाएँ नंगी होती हों
वहाँ रास-नृत्य होगा
या रस-भंग ?

दुर्योधन-दुःशासन,
और शकुनि-शिशुपाल के रहते
न तुम्हारा रूप सुरक्षित है,
न मेरी रूप-याचकता !

राधे !
अपने प्यार की आहुति दो ।
मुझे अपने स्पर्शों,
और बन्धनों से मुक्ति दो ।

बांसुरी की जगह
मुझे शंख दो राधे !

उन पराजितों के लिए,
जिनका हक़
जुए के खेल से छीन लिया गया है ।

राज्य-सुख से बहिष्कृत
उन वंचितों के लिए,
जिन्हें सगे भाइयों ने
पांसों से कपट-भरे दांव फेंक-फेंक कर
तबाह कर दिया है ।

उन निर्वासितों के लिए,
जिन्हें युग-युग से
लाक्षागृहों में भस्म कर देने के
कुचक्र रचे जा रहे हैं ।

राधे !
प्रतीक्षा में
पलकों को पथराने की भावुकता छोड़ दो ।
कालिंदी के कूलों से
नयनों की होड़ लगाना छोड़ दो ।

राधे !
आँसू अगर इतिहास बन सकें
आदमी अगर अहसास बन सके
तो अपने विरह को विद्रोह बन जाने दो ।

मैं रास-गीतों की जगह
गीता की रचना करूंगा ।
चीर-हरण की जगह
कालिय-मर्दन करूंगा ।
गोपिकाओं के मन की नींवों को
हिलाने से पहले
शोणित-पीती मशीनों की
नींवों को हिलाऊँगा ।

राधे !
एक इतिहास की पुनर्रचना का
समय आ रहा है ।
महाभारत
इतिहास की अनिवार्यता बनता जा रहा है !

बीकानेर
(शरदपूर्णिमा)

१२ अक्तूबर, १६७३

एक अनु-जिज्ञासा

नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखिला अंग

कोई आकृति नहीं है तुम्हारी अनुकृति।
कोई बिम्ब नहीं है तुम्हारा प्रतिबिम्ब।
तुम्हारी उपमा में दीन है प्रकृति अपने दृश्यों में।
अर्थ-पंगु हैं प्रतीक और रूपक तुम्हारी अभिव्यक्ति में

तुम्हें जो शब्दों में बाँधने का प्रयत्न करती है,
वह भाषा कोरी लड़खड़ाहट है शब्द-कोशों की।

कितनी चमत्कारिक हो गयी है अर्थवत्ता
ऐसी अभिव्यक्तियों से—
कि तुम्हारे चेहरे पर तपती है एक दोपहरी,
कि तुम्हारी देह में बहती है एक वेगवती नदी,
कि तुम्हारे अंगों के कोणों में करवटें लेता है
पहाड़ी घाटियों का घुमाव,
कि तुम्हारी देह-यष्टि है जैसे
जगली गुलाबों से भरी एक नीली झील।

तुम्हारे रूप के रूपान्तरण की
हो सकती है एक ही प्रस्तुति—

कि तुम्हारा खूबसूरत जिस्म
जैसे काव्य की एक तल-स्पर्शी पंक्ति
जिसे गुनगुनाते जायँ,
गुनगुनाते जायँ,
और गुनगुनाते जायँ !

तुम्हें देखकर आस्तिक हो जाये
कोई नास्तिक मन,
और तुम्हारे रचयिता की प्रशस्ति में
नमन की आखिरी सीमा तक
झुकता चला जाय,
झुकता चला जाय,
और झुकता चला जाय।

दिल्ली

७ अप्रैल, १९७२

एक अलहदा गीत

आओ हम-तुम मिलें, एक कथा बाँच लें,
कोरे इश्क़ को नहीं, बल्कि अरमान की,
बल्कि अरमान की।

आओ हम-तुम मिलें, एक गीत ही लिखें।
कोरे छन्द में नहीं, बल्कि नये अर्थ में,
बल्कि नये अर्थ में।

आओ हम-तुम मिलें, एक कविता पढ़ें,
केवल जिस्म की नहीं बल्कि जेहाद की,
बल्कि जेहाद की।

आओ हम-तुम मिलें, एक स्वप्न ही बुनें,
केवल आँख में नहीं, बल्कि आस्था में,
बल्कि आस्था में।

आओ हम-तुम मिलें, एक मंत्र ही जपें,
केवल प्यार का नहीं, बल्कि संहार का,
बल्कि संहार का।

आओ हम-तुम मिलें, एक साज़ छेड़ दें,
केवल मेघ का नहीं, बल्कि बिजलियों का,
बल्कि बिजलियों का,

तुम कामिनी नहीं, केवल भामिनी नहीं,
लक्ष्मीबाई भी हो, गौरी-काली भी हो,
गौरी-काली भी हो।

मैं भी मजनूं नहीं, केवल कान्हा नहीं,
बल्कि शंकर भी हूँ, बल्कि सारथी भी,
बल्कि सारथी भी।

तेरे एक हाथ में मद का प्याला सही,
लेकिन एक हाथ में तेरे खप्पर भी है,
तेरे खप्पर भी है।

मेरे एक हाथ में केवल बाँसुरी सही,
लेकिन एक हाथ में युद्ध-गीता भी है,
युद्ध-गीता भी है।

तुमने मुझको दिया है केवल प्यार ही नहीं,
दिया जौहर भी है, दिया शीश काट कर,
दिया शीश काट कर।

मैंने सीखा नहीं है केवल रास-रंग ही,
मैंने जहर भी पिया है, किया ताण्डव भी है,
किया ताण्डव भी है।

तेरी आंख में समुंदर की प्यास ही नहीं,
ज्वालामुखियों का है कोई संसार भी,
कोई संसार भी।

मेरी देह में नहीं है केवल काम-देवता,
मेरी बाँहों में है एक समर देवता,
एक काल-देवता।

तुम मुझ में मिलो, मैं तुम में मिलूं,
फिर नयी बात हो, फिर नया जन्म हो,
केवल शिशु का नहीं, बल्कि विश्व का भी,
बल्कि विश्व का भी।

बीकानेर

२५ अक्तूबर, १९७७

थकी ज़िन्दगी का गीत

तन ही टूटा नहीं, किन्तु मन भी टूटा,
अजी परायापन क्या, अपनापन टूटा,
निकल गया यों मुझे कुचलकर दुष्ट समय,
जैसे जीवन हो भांडा टूटा-फूटा !

मैंने जितना जिया, जिया अतिसाधारण,
यों लगता है—जन्म अकारथ बीत गया,
उजड़ गयी है उम्र एक वीराने-सी,
पता नहीं, कब मौसम आया, रीत गया !

हम भी बन सकते सुकरात, अगर हमको
केवल मिलता एक जहर का पैमाना,
कैसे कोई नहीं पस्त होकर बिखरे,
जब हो जीवन ही जहरीला मैखाना !

टूट गये आयाम सभी, पैग़ाम सभी,
साये-सा अब साथ बचा है पछतावा,
कभी-कभी फिर भी व्यतीत जी उठता हैं,
जब-जब आन्दोलित हो जाता है लावा ।

हम में भी लड़ने की एक तमन्ना थी,
क़दम-क़दम पर समझौतों ने मार दिया,
कितना सुन्दर था दिमाग़ में गुलदस्ता,
जिस पर एक अपाहिज जीवन वार दिया ।

एक समय अपना भी था आकाश-तना
स्वाभिमान से भरा-भरा उन्नत मस्तक,
लेकिन मिलीं मुश्किलें इतनी आवारा,
दरवाज़े पर देती रहीं रोज दस्तक़।

कब तक कोई लड़े निहत्था, एकाकी,
क्रुद्ध परिस्थिति की आक्रामक भीड़ों में,
एक लड़ाई जीतें, दूजा युद्ध ठने,
कब तक कोई बचे टूटती रीढ़ों से !

जहाँ दोस्ती के मजहब में धोखा हो—
ऐसे सम्प्रदाय ने हमको साथ दिया,
राह दिखानेवाले जिसका क़त्ल करें—
ऐसे यारों ने हाथों में हाथ दिया !

श्रम ही टूटा नहीं, व्यवस्थित क्रम टूटा,
छूटी केवल नहीं दिशा, मौसम छूटा,
लूले-लंगड़े जीवन की इस यात्रा में
ग़म है सच्चा साथी, बाक़ी सब झूठा !

बोझ और जीवन में फ़र्क करें जब तक,
ग्रस्त हो गया मन का सारा कोलाहल,
प्रेत-लालसा है अब दूजा जन्म मिले,
बीत गया यह जन्म बिना कोई हलचल !

बात करें ऐसी बेहया जिन्दगी की,
जो बचपन के बाद बनी हो वृद्धापन,
लांघ गयी ऐसे दहलीज जवानी की—
जैसे यौवन का हो नाम अजनबीपन !

बीकानेर

२ मार्च, १९७२

कहाँ आ गये हम !

कहाँ आ गये हम गीदड़ों की बस्ती में,
हमको यहाँ कोई शेर दीखता नहीं !

कहाँ आ गये चमचे चिलमची के चक्कर में,
हमको निराला शायर एक दीखता नहीं !

हींजड़े की जांघों पर मर्द का लंगोटा है,
लोमड़ी के चेहरे पर बाघ का मुखौटा है !

अँधेरे की देह पर रोशनी की पालिश है,
कुर्सियों के चरणों पर सेवकों की मालिश है !

कहाँ आ गये हम पायकों की महफ़िल में,
हमको कबीर, मिल्टन एक दीखता नहीं !

सबकी जुबान पर आफ़तों के ताले हैं,
लेखनी की जीभ पर नौकरी के छाले हैं ।

सब चूक जाये चुगली मगर चूकती नहीं,
ओहदों की महिमा में जीभ सूखती नहीं ।

कहाँ आ गये हम कबूतर के झुण्डों में,
हमको यहां कोई बाज दीखता नहीं !

कहाँ आ गये भेड़ों-बकरियों के बाड़े में,
हमको यहां पागल गज दीखता नहीं !

सियारों ने अपने तन रँग लिये हैं,
भेड़ियों ने अपने मन रँग लिये हैं !

मेमनों के होठों पर हाथियों के छन्द हैं;
रीछ और चीते पींजरों में बन्द हैं !

कहाँ आ गये हम मुर्गियों के दड़बों में,
हमको यहाँ कोई मोर दीखता नहीं।

अस्मिता को बेचती यह पूरी जमात है,
खुशामद का मन है, औ' बग़ावत की बात है !

देवता के मन्दिर में भक्त-सी समर्पित है,
दफ्तरों की चौखट पर रिश्वतों-सी अर्पित है !

कहाँ आ गये भांडों-कलालों की टोली में,
हमको यहाँ सच्चा रूप दीखता नहीं !

कहाँ आ गये हम भाट के कबीलों में,
हमको यहाँ भूषण, चंद दीखता नहीं !

बीकानेर

१५ जून, १९७८

बहस मकान से

मेरे हाथ में कविता-पुस्तक देखकर
मेरा मकान जोर से हँस पड़ा—
"तुम कोरे कागज़ के कीड़े ही रहे,
स्याही के शोषक.
और क़लम के बाजीगर !"

मकान को आदमी की तरह बोलते देखकर
मैं स्तब्ध रह गया।

मकान व्यंग्यात्मक स्वर में कह रहा था—
"नीले आकाश के पार
परी-लोक में विचरण करनेवाले
कल्पना-जीवी !
अपनी सनक में तुम इतना भी नहीं समझ पाये
कि आकाश की छतरी के नीचे
अपना भी एक मकान होता है !"

इस बार मेरी मानव-चेतना ने जवाब दिया—
"नीले आकाश की छतरी के नीचे
मैं अकेला ही नहीं,
लाखों लोग बेमकां हैं।
आदमी के दर्द से अनजान ऐ मकान !
तू कविता के दर्द को क्या समझे !"

"तुम्हारी बात पर जी खोलकर हँसूँ,
या सिर धुन-धुन कर रोऊँ ?"
मकान खीझकर बोला—
"तुम कविता में जिस दर्द की तलाश कर रहे हो,
वह मानसिक एय्याशी है।
स्वयं को जीवन का द्रष्टा माननेवाले स्वप्न-जीवी!
दरअसल तुम जीवन के
क ख ग से भी परिचित नहीं हो!
दीन-दुनिया से बेखबर,
हक़ीक़तों से अनजान,
शिशु-सुलभ चपलता के साथ
रंगीन छायाओं को पकड़ने के लिए
भागनेवाले आत्म-रति नायक!
अपनी सनक में तुम यह भी नहीं समझ पाये
कि तुम्हारी अपनी कविताएँ ही
तुम्हारे अस्तित्व से
खिलवाड़ करती जा रही हैं।"

"क्या मतलब ?"
मैंने आश्चर्य से पूछा।

"तुम अगर मतलब ही समझ लेते
तो मैं तुम्हें स्वप्न-जीवी ही क्यों कहता!
तुम्हें तो फ़िलहाल इतना अंदाज भी नहीं
कि मैं भी तुम्हारा नहीं हूँ!"

"तुम भी मेरे नहीं हो!"
मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया।

'बे-रहम पत्थर-दिल !
तेरे प्लास्तर में मेरी कविताएँ मिली हुई हैं !
तेरी ईंटों पर मेरी धारणाएँ लिखी हुई हैं !
तेरे आवासों में मेरे खट्टे-मीठे प्रसंग सोये हैं !
तेरे जर्रे-जर्रे पर मेरी यादें चिपकी हुई हैं !"

"पर मुद्दे की बात !
फिर भी मैं तुम्हारा नहीं हूँ !"
मुझे चिढ़ाकर,
इठलाकर मकान बोला।

एक उच्छ्वास के साथ मैंने कहा—
आखिर तो तुम
पत्थर-प्लास्तर-ईंट हो !
तुम आत्मा और आस्था के
रहस्यों को क्या समझो !"

इस बार मकान ने क्रोधित होकर कहा—
"मैं पत्थर-प्लास्तर-ईंट ही सही,
पर तुम्हारे-जैसे बुद्धि-विलासियों से लाख अच्छा हूँ।
मेरे साथ अपने संयोग-वियोग जोड़ते समय
यह शाश्वत सत्य मत भूलो
कि तुम महज एक किरायेदार हो !"

"अब समझा तुम्हारे तर्क का तूफ़ान !"
मैंने सहज मुस्कान के साथ कहा—
"मेरे संगदिल हमसफ़र !
तुम क्या समझो कि मानव-मानव में
अनुराग-भरा सम्बन्ध होता है।
इसलिए मकान-मालिक होने से

या क़िरायेदार होने से
कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता !"

"चुप रह स्वप्न-जीवी !"
इस बार मकान ने मुझे निर्दयता से फटकार दिया !
"स्वयं को ग्राधुनिक-बोध से
सम्पन्न माननेवाले खगोलवासी !
तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं
कि दुनिया में ग्रर्थ के ग्रतिरिक्त
कोई रिश्ता नहीं होता !"

मैंने भी इस बार तड़पकर कहा—
"कविता के दर्द के ग्रागे
ग्रर्थ का ग्रंकगणित ग्रर्थ-हीन होता है !"

मकान ने ग्रंतिम फ़ैसला सुनाते हुए कहा—
"तुम्हारे-जैसे दिमाग़ी बाजीगरों से
बहस करना झख मारना है !
तुम कविता के दर्द को
मरे हुए बच्चे की तरह
सीने से चिपकाये रहो ।
तुम ग्रर्थ की महत्ता क्या समझो !
तुम्हारी कविता के पास केवल दर्द है,
या ग्रपाच्य हक़ीक़त है ।
जबकि ग्रर्थ के पास हैं—
ग्रदालतें । वक़ील । सनदें । गुण्डागर्दी ।
कूटनीतियां । समूहवादी साजिशें !

"मैं तुम्हें आख़िरी चेतावनी देने के लिए मजबूर हूँ—
मैं तुम्हारे-जैसे काग़ज़ी मरीज़ों को
अपने दर से निकालकर ही दम लूँगा,
और तुम्हारी स्वप्न-जीवी कविता
हमेशा की तरह
इस मोर्चे पर भी तुम्हें धोखा देगी !"

बीकानेर ८ दिसम्बर, १९७६

बेवफ़ा कविता से संवाद

बेवफ़ा कविता !
तू उस समय कहाँ थी,
जब मेरे अस्तित्व को खिलौना समझकर
मेरे 'हमदर्द' मुझसे खिलवाड़ कर रहे थे ?

संवेदनाओं से हो रही थीं कौतुक-क्रीड़ाएँ !
अकलंकित मर्यादा पर
लग रहे थे साजिशों के प्रश्न-चिन्ह !
आजाद-तबियत-चिड़िया-सा मेरा मन
जब कैद किया जा रहा था सीखचों में,
काटे जा रहे थे उसके पंख,
और दागा जा रहा था उसका तन,
बेवफ़ा कविता !
तू उस समय कहाँ थी ?

बेवफ़ा ! तू उस समय भी लापता रही,
जब सम्बन्ध बन गये फ़रेब !
घनिष्ठता बदल गयी औपचारिकताओं में,
योजनाओं को ध्वस्त कर रहे थे षडयंत्र !

मेरी अस्मिता पर लग रहे थे
जब अर्थ के अंकगणित के विराम-चिह्न,

और जब पूरी जिन्दगी ही
बन रही थी एक कर्ज,
बेवफ़ा कविता !
तू उस समय कहाँ थी ?

तू क़लम को तिजारत बनते देखती रही,
और कुछ नहीं बोली !
तू वेद–जैसे मन का सौदा होते देखती रही,
और एकदम चुप रही !
मेरे 'आत्मीय' मेरी अस्मिता से
मखौल करते रहे,
और तू गुमसुम रही !

यह इन्द्रधनुषी जिन्दगी,
जिसके अंश–अंश पर
मैंने तेरी प्रतिमाएँ उकेरी थीं,
खण्ड-खण्ड होकर बिखर गयी,
और तू तमाशबीनों की तरह
दूर खड़ी तमाशा देखती रही !

बेवफ़ा कविता !
मैंने तुमसे फ़िल्मी प्रेम तो नहीं किया था
कि तेरी अनुपस्थिति को
मैं रेत के समुद्रों पर बहलाता,
या शहर की सड़कों पर मापता,
या बेतुके दर्द के गीतों में आलापता !

कविता !
मेरा मन कुछ और क़िस्म का था।

महाभियोग

ः धमाके की तरह
ा को फोडकर
ड़कों, फुटपाथों पर
ों मेरी कविताएँ,
रमुद्राएँ धारण किये ।

ी की लिपियों की
ीर-चीर कर
ों पर फैल गयीं मेरी कविताएँ,
ों में बाल बिखेरे, अस्त-व्यस्त,
ाकृतियों के साथ ।

ां में धूमकेतु,
ते तवे,
रोम में ऐंठते तनाव थे ।
जक मनः-स्थितियों में
र बढ़ चली मेरी कविताएँ ।

क्षिप्तावस्था देखकर
ः-पीछे चल पड़ा एक जिज्ञासु जन-समूह
आकार में
ा। फैलता गया। और फैलता गया।

अब न तो मैं तेरे कुंतल सहला सकता हूँ,
न तेरे चेहरे को
अपनी हथेलियों में भर सकता हूँ !
कविता !
आज मेरा अंग-अंग जख्मी है !

अब मुझे यकीन हो गया है
कि तू उस समय भी मुझे धोखा देगी,
जब शहर की सड़कों से
मेरा आखिरी कारवाँ गुजरेगा !
यह शहर,
जिसने कभी मेरा अंदाजे-बयाँ नहीं समझा !

बेवफा कविता !
तू तो मेरा अंदाजे-बयाँ समझती थी,
तू बेगानी कैसे हो गयी ?

बीकानेर

१८ जून, १९७४

महाभियोग

विस्फोट के धमाके की तरह
मेरे दिमाग़ को फोड़कर
गलियों, सड़कों, फुटपाथों पर
निकल पड़ी मेरी कविताएँ,
विवर्ण मुखमुद्राएँ धारण किये।

मेरी डायरी की लिपियों की
अंतड़ियाँ चीर-चीर कर
आम रास्तों पर फैल गयीं मेरी कविताएँ,
गर्म हवाओं में बाल बिखेरे, अस्त-व्यस्त,
विद्रूप मुखाकृतियों के साथ।

उनके नेत्रों में धूमकेतु,
देहों में तपते तवे,
और रोम-रोम में ऐंठते तनाव थे।
ऐसी अराजक मनः-स्थितियों में
जन-पथों पर बढ़ चलीं मेरी कविताएँ।

उनकी विक्षिप्तावस्था देखकर
उनके पीछे-पीछे चल पड़ा एक जिज्ञासु जन-समूह
जो अपने आकार में
फैलता गया। फैलता गया। और फैलता गया।

उत्तेजित-ग्रान्दोलित मेरी कविताएँ
उस विशाल जन-मैदान में जा पहुँची
जहाँ अमूमन
राजनीतिक आम-सभाएँ आयोजित की जाती थीं

वह समूचा विशाल मैदान
मानव-आकृतियों से
लबालब, खचाखच, ठसाठस भरकर
जन-समुद्र के रूप में हिलोरें लेने लगा।

विशाल जन-मञ्च पर चढ़ गयीं मेरी कविताएँ!
फिर एक साथ
अपने वस्त्र फेंक-फेंक कर
इस कदर निर्वसना हो गयीं
कि अनेक समझदार आँखें
लज्जा-भार से धरती में धँस गयीं।

विवस्त्रा कविताओं में
सबसे उग्र एक कविता ने
ऊँची आवाज में अपना बयान जारी किया—

"एक कोरे कल्पनाशील कवि की
रक्तचाप-हीन हम दिमागी कविताएँ
अपने स्रष्टा के दोहरे व्यक्तित्व के खिलाफ
इस दरबारे-ग्राम में
अपनी सामूहिक हत्याओं का
महाभियोग घोषित करती हैं।

"हमारा स्रष्टा हमारे मुखों से
क्रांति और विद्रोह के शंख बजाता रहा,

और अपने जीवन में
अपने मुख से
एक शर्मनाक, समझौताग्रस्त भाषा का उच्चारण
करता रहा ।

"हमारे माध्यम से
वह व्यवस्था से युद्ध करने का
नाटक रचता रहा,
और अपने जीवन में
आत्म-समर्पण के
शर्त-हीन संधि-पत्रों पर हस्ताक्षर करता रहा।

"एक चालाक छद्म के साथ
वह हमें अपनी 'सचाइयाँ' कहता रहा,
और अपनी कायरता को 'परिस्थिति' कहकर
आत्म-रक्षा के कवच खोजता रहा ।

"अपने स्रष्टा की इस दोगली नपुंसकता के खिलाफ़
हम उसकी खोखली-जोशीली कविताएँ
इस दरबारे-आम में
सामूहिक आत्म-हत्याओं का निर्णय लेती हैं,
और इस जन-अदालत से गुजारिश करती हैं
कि इन हत्याओं की न्यायिक जाँच करायी जाय,
तथा अपराधी के लिए
कठोर-से-कठोर
दण्ड-विधान की व्यवस्था दी जाय !"

यह बयान देकर उस उग्र कविता ने
सभी विवस्त्रा कविताओं को

एक नेत्र-संकेत दिया,
और फिर असंख्य आँखों के सामने,
असंख्य हाथों के मना करते,
असंख्य शब्दों के टोकते,
वे विक्षिप्त, विवर्ण कविताएँ
अपनी चमचमाती अँगूठियों से
हीरों की कनियाँ निकाल-निकाल कर
सामूहिक रूप से एक साथ निगलने लगीं,
और तड़प-तड़प कर पछाड़ खाती हुईं
उस विशाल जन-मञ्च पर
धड़ाम-धड़ाम गिर-गिर कर
लाशों के रूप में पसरने लगीं।

असंख्य डबडबायी आँखें,
पश्चाताप् और शर्म में घुलती हुईं
इस ट्रेजिक अंत को देखती रहीं,
और फिर एक दिली नफ़रत के साथ
भीड़ के असंख्य चेहरों में
अपराधी चेहरे को तलाशने लगीं।

बीकानेर — ५ सितम्बर, १६७२

दो डायरियाँ
और अपनी कविता से संवाद

मेरी कविता !
अब जबकि मौत और जिन्दगी के बीच का
एक लम्बा फ़ासला तय हो चुका है,
मैं यह मानने लगा हूँ
कि जिन्दगी और मौत दो दुर्घटनाएँ हैं,
जो काल, परिस्थिति और पात्र की
परवाह किये बिना ही घटित होती हैं।

जिन्दगी और मौत के बीच का
एक लम्बा सफ़र मैं तय कर चुका हूँ।

कविता !
एक समय था
जब मैं शायराना भाषा की
चौहद्दियों में जी रहा था,
मेरे पास कुछ बिल्ले थे,
जिन्हें अपनी जेब पर टांक-टांक कर
मैं आत्म-मुग्धता के नशे में डूब-डूब जाता था।

उन दिनों मेरे पास एक डायरी थी,
जिसके पन्नों पर फ़िल्मी अंदाज में
कई रूमानी फिकरे बिखरे पड़े थे।

मेरी अवयस्क कल्पनाओं के
कितने ही गिपचिप सिलसिले
आज भी इस डायरी में लिपि-बद्ध पड़े हैं।
एक अनाम-अदेह प्रियतमा के नाम
लिखे गये प्रेम-पत्रों को
सतरंगी काव्य के अनेक पाखी
अपनी चोंच में दबाये
ऊंची उड़ानें भर-भर कर
इस डायरी में अपना दम तोड चुके हैं।

कविता !
तुम्हे याद होगा—
उस समय मैं एक छोटा-बड़ा ज्वालामुखी था।
मेरे शब्द दहकते अंगारे थे।
मन में एक तड़प थी—
कुछ यंत्रों को नेस्तनाबूद कर देने की
कुछ बुनियादों को जड़ से उखाड़ फेंकने की।

कविता !
अब मैं यह समझ गया हूँ कि उस समय
मेरे भीतर एक शेखचिल्ली बैठा था।
आज थकीं-टूटीं सहयात्राएँ,
मासूम, निरीह निगाहें,
वृद्ध-अपाहिज निर्भरताएँ,
और मुलम्मा-चढ़ी सामाजिकताएँ
मुझे उन खोखली उड़ानों के
गलत-सलत सिलसिलों का
सारा भेद समझा रही हैं!

आज अपने-आप पर
मंद-मंद मुस्कुराने की
इच्छा शेष रह गयी है!

कविता!
अब मेरी डायरी बदल गयी है।
उसमें नंगे, निर्मम सिलसिलों का क्रम जुड़ गया है।
कच्चे सपनों की जगह
सच्चे तनाव उभर आये हैं।
इस डायरी में
हकीकतों के कितने ही नंगे सिलसिले
लकीरों में खिंचते चले गये हैं।

मेरी अपनी जरूरतों,
और मेरे साथ सहयात्रा करतीं
कुछ और जरूरतों के
कितने ही आंकड़े
इस डायरी में चढ़े हुए हैं।
और सिलसिले हैं कि कभी खत्म ही नहीं होते।
लकीरें खिंचती जाती हैं,
आंकड़े फैलते जाते हैं।

सिलसिले, जो
नमक। मिर्च। साबुन। सर्फ। डालडा। दाल
से शुरू होते हैं, और
साड़ी। फ्रॉक। स्कर्ट। पैंट। बुशर्ट। ब्लाउज
तक फैलते जाते हैं।
आंकड़े, जो

निवार । फ़र्निचर । टेबुल । गॉगल्स ।
ग्रलमारी । मसनद । लाइटर । सिगरेट-केस
में बँट जाते हैं, और
सिलाई-मशीन । एलिमिनेटर ।
घड़ी । साइकिल । स्लैक्स की
फेहरिस्तों पर
अपना दम तोड़ देते हैं ।

पता नहीं, कितने-कितने सिलसिले,
कितने-कितने ग्रांकड़े
इस डायरी में अधूरे पड़े सड़ रहे हैं ।

पर कविता !
रूमानियत की ग़लाज़त ने
आज भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा है ।
आज भी मेरे दिमाग़ में
एक ड्राइंग-रूम का नक़्शा है,
जिसमें सोफे पर बैठा मैं
किसी ख़ूबसूरत सिगरेट-केस से
एक सिगरेट खींचता हूँ,
'खट' । लाइटर की आवाज़ होती है ।
ट्रे लिये, सफ़ेद परिधानों में
पत्नी उपस्थित होती है,
कॉफी का प्याला उठाता हूँ,
और अपने ख़याली पुलावों में डूब जाता हूँ ।
तुम में खो जाता हूँ ।

मेरी कविता !
जब कभी मैं इस खयाली दुनिया में भटकता हूँ,
अचानक ही एक झटका लगता है ।
खयालों की कॉफ़ी बिखर जाती है,
कप झन्नाकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

उस समय एक बच्ची
एक अपराधी भाव से
स्कूल की फ़ीस माँग रही होती है ।
दूसरी बच्ची
अपनी सहेली के बेल-बूटेदार कमीज़ की
तारीफ कर रही होती है !
और मैं जानता हूँ—
उसकी तारीफ में एक अधूरी ख्वाहिश होती है !
एक बच्चा एक अधूरे अरमान की तरह
दिमाग को कुरेद जाता है ।
मुन्नी एक तोतली माँग के पूरा न हो पाने की
शिकायत कर रही होती है,
और एक औरत,
एक धुँधली रोशनी की तरह
आँखों के आगे मँडराकर अँधेरा छोड़ जाती है।

मेरी कविता !
रूमानी फ़िक़रों और हक़ीक़तों के बीच
एक गहरा अंतराल तुम्हें नजर आता है ?
क्या आज तुम में और उस औरत में
कोई समानता शेष बची है ?
एक समय मैंने तुम दोनों को
एक-दूसरी की पूर्णता माना था,

तुम्हें उस औरत की देह के अनेक कोणों में
लहराते हुए देखा था ।
आज जब वह औरत
एक हिलती-डुलती खामोशी मात्र रह गयी है,
तो मेरी कविता !
क्या अब भी तुम उसमें अपना पर्याय खोजोगी ?

और कविता !
मुझ पर जो एक सामाजिकता का आरोपण किया
गया है,
मेरे साथ जो संज्ञाएँ, जो सर्वनाम,
जो विशेषण जोड़े गये हैं,
क्या तुम उनमें मेरी अस्मिता खोज सकोगी ?

कितने-कितने मायावी संस्कार
मेरी असलियत को चाट रहे हैं ।
मेरी रिक्तताएँ एक चमक-दमक के नीचे
आवृत रहने को शापित हो रही हैं ।
मेरी कविता !
क्या मैंने कभी निर्णय की इस स्वतंत्रता का
वरण किया था ?
क्या ऐसे किसी लाइफ-बॉन्ड पर
मैंने हस्ताक्षर किये थे ?

मेरा वह मिडिल-स्कूल टीचर कितना सही था,
जो मुझे शुरू से ही यह पाठ पढा रहा था —
लक्ष्मी और सरस्वती के बीच एक खाई होती है।
उस समय उस टोपी-धारी टीचर की

दकियानूसी शैली पर मुझे बरबस हँसी आती थी।
पर आज लगता है कि अपनी तोता-रटन्त-शैली में
वह मुझे जिन्दगी का एक शाश्वत पाठ पढ़ा रहा था।

मेरी कविता !
ग़लती तुम्हारी नहीं थी कि तुम मेरे पास आयी,
ग़लती मेरे निर्णय की थी !
मैं तुम्हारी जगह बड़ी आसानी से
खुशामद और तिकड़म को चुन सकता था !
'आत्मा' नाम की ग़लीज़ चीज से
समझौता कर सकता था !
लेकिन तुमने अपने रूप के नशे से
मुझे इतना बदहवास कर दिया था
कि मैं तुम्हारे सिवाय
और कुछ भी नहीं देख सका था।
आज इस यात्रा में
ट्रेजेडी यह हो गयी है
कि तुम खून की तरह
मुझ में घुल-मिल गयी हो,
तुम्हें अलग कर पाना भी
अब आसान नहीं रहा है !

मेरी कविता !
तुम्हें चुनने की एक ग़लती के साथ-साथ
मैंने एक और ग़लती भी कर डाली थी !
मैं अपनी सारी जिज्ञासाओं का समाधान
तुममें खोजना चाहता था !
कितनी मूर्खता-पूर्ण अपेक्षा थी यह तुम से !

कविता ! क्षमा करना
मुझे तुम्हारी निरीहता का पता नहीं था !

मुझे पता नहीं था कि तीन आधुनिकाएँ—
तिकड़म। खुशामद। राजनीति—
तुमसे अधिक खूबसूरत और व्यावहारिक हैं।
मुझे पता नहीं था
कि तुम सेठाश्रय और राज्याश्रय के
कठघरे में पराधीन हो !
तुम्हारा प्रमाण-पत्र संस्थाएं बांटती हैं !

मेरी कविता !
मैं आश्रय को नहीं,
तुम्हें खोजता रहा।
यों जिन्दगी का फ़ासला
एक ग़लत विश्वास के सहारे
तय करता रहा !
अब आधा सफ़र तय करते-करते
मुझे तुम्हारी बेबसी का अहसास हो गया है !
अहसास हो गया है कि तुम्हारा जन्म
कलम की नोक से ही नहीं होता,
विज्ञापन की कोख से भी होता है।

कविता !
सही-सही बातें कहकर
शायद मैंने तुम्हें बहुत चिढ़ा दिया है !
पर नाराज मत होना
यदि मैं वितृष्णा से कहूँ-

कि खाली उम्र की दराज़ों में
जितना मैं तुम्हें भरता रहा,
उतना यदि चंद टुच्ची साज़िशों को
भर रहा होता,
तो आज मेरे सामने
शादियों। फ़ॉकों। स्कर्टों। साड़ियों। पैंटों।
बुश्शर्टों। बनियानों। फीसों। और क़िताबों के
मरे हुए चमगादड़ नहीं लटकते !

कविता !
आज जब पेट-भरनेवाली एक अदद नौकरी के लिए
मैं घुटे मन से तैयारी कर रहा होता हूँ,
तो एक अपाहिज वृद्धावस्था
फ़िज़ूलखर्ची के मुद्दे पर
व्याख्यान देने लगती है,
जीभ से स्वतन्त्र हुई एक औरत
अपने भाग्य का बखान कर रही होती है—
ऐसे अपद्य माहौल में
तुम से संवाद जारी रखने की
क्या प्रेरणा-स्थिति रह सकती है,
मेरी कविता !

कविता !
मैं जानता हूँ कि मेरी पत्नी और माँ के बीच
अधूरेपन की खाइयाँ हैं।
माँ से लेकर बच्चों तक अधूरेपन का
एक व्यापक, ऐतिहासिक सिलसिला है।
सभी अपने अधूरेपन का उत्तर

मुझ में खोजना चाहते हैं,
और मेरी कविता !
मैं अपने अधूरेपन का उत्तर
एक अर्से से तुम में खोज रहा हूं।

कभी-कभी मेरे अधूरेपन से अनायास
पत्नी एक पहचान जताने का नाटक करती है,
उस वक्त वह प्यार के बुखार में तप रही होती है,
मै उसकी अधूरी पहचान की बुनियाद जानता हूँ।

इस सब खामियों के बादजूद
मेरी कविता !
एक बड़े उपकार के लिए
मैं तुम्हारा चिर-ऋणी भी रहूँगा।
तुमने मुझे एक जबर्दस्त सुरक्षा दी है—
अपने-आपको बेपर्द कर देने की सुरक्षा।
तुम्हारे सामने मैं भीतर-बाहर—
हर ओर से अनावृत हो जाता हूँ,
इतना अनावृत
मै और कही नही हो पाता !

तुम्हारी सुरक्षा में
लोक-सम्मान और सामाजिकता के मुलम्मों को
अपने व्यक्तित्व से उतार-उतार कर
मैं चिन्दी-चिन्दी करके फेंक सकता हूं।
तुमने मुझे अपनी सचाइयों में
स्वयं को अभिव्यक्त कर देने की सुरक्षा दी है।

मेरी कविता !
नक़ली झीने पर्दों से
बाहर निकल आने की यह सुरक्षा,
जो तुमने मुझे दी है,
वह किसी बड़े उपकार से कम तो नहीं है।
इस सुरक्षा के लिए ही
मैं तुम्हारा आजन्म ऋणी रहूँगा।

बीकानेर २६ मई, १९७२

केवल एक जगह

सब जगहों पर फैल गयी है मेरे मन की कालिख-
घर में। बाज़ार में। सभा में। कॉलिज में।

दिन में कई बार बदलने पड़ते हैं मुझे चेहरे—
संवेदना के। स्नेह के। सहानुभूति के। सम्बन्धों के।

दिखाता रहता हूँ मैं एक ही वस्तु को दो तरीक़ों में—
दाँत कमजोरों को और बत्तीसी सत्ताधारियों को।

टाइ और कॉलर की तरह बदलता रहता हूँ—
शब्द। सौगन्ध। समूह। समझौते।

मेरे दोस्तो! मेरे साथियो!
कम-से-कम एक जगह तो मुझे सच्चा रहने दो
अपने लेखन में। अपने मानस में। अपने-आप में

बीकानेर १२ जनवरी, १६६६

अस्वस्थ विरोध

तुमने जब खुले आकाश के नीचे
मेरा विरोध किया,
तो मैंने समझा—
तुम्हारे विरोध में खुले आकाश-सा
खुलापन है।

लेकिन दूसरे दिन चौराहे से गुजरते हुए
जब मैंने तुम्हारा अभिवादन किया,
तो तुम्हारी नजरों ने
मेरी नजरों से दिशाएँ बदल लीं—

मेरा व्यामोह टूट गया,
खुले आकाश के नीचे जन्मे विरोध में भी
अस्वस्थता थी।

बीकानेर

१५ सितम्बर, १९६८

प्रतिबिम्ब

मेरे पास मुखौटे नहीं हैं,
न प्राइवेट, न सार्वजनिक।
मेरा चेहरा वही है,
जो मेरा चेहरा है।
मेरे दोस्त!
यदि इस पर भी तुम्हें
मेरे चेहरे पर मुखौटे नजर आते हैं,
तो मेरे चेहरे में
तुम अपना ही चेहरा देख रहे हो!

बीकानेर | २५ दिसम्बर, १९६८

प्रकृति

हम उनके लिए
पगडंडियाँ बनते रहे,
वे हमारे लिए
दीवारें।

न हम कभी बदलेंगे।
न वे कभी बदलेंगे।

जयपुर

५ जून, १९७२

दो स्थितियाँ

एक :
दर्द आदमी को निगलता हुआ,
ज्वाला देह को झुलसती हुई,
अभाव व्यक्तित्व को रौंदते हुए,।

दो :
आदमी दर्द को निगलता हुआ,
देह ज्वाला को लीलती हुई,
व्यक्तित्व अभाव को रौंदता हुआ।

एक का अर्थ
आत्म-हत्या।

दूसरी का अर्थ
जिजीविषा।

चूरू — ८ मार्च, १९६६

गर्भस्थ शिशु

पतझड़ के साम्राज्य में
किसी नन्हे पत्ते का फूटना—
एक विडम्बना !

बड़ी मछलियों के ताल में
छोटी मछलियों का आकृति धारण करना—
एक विडम्बना !

पत्ते फिर भी फूटते हैं !
छोटी मछलियाँ फिर भी आकृति धारण करती हैं।

श्री विजयनगर (श्रीगंगानगर) ८ सितम्बर, १९६८

अनुत्तरित प्रश्न

कौन है उत्तरदायी
गला घोंटकर मारे गये,
और मकानों के खामोश कोनों में दफ़नाये गये
अकाल मृत्यु-ग्रस्त
ईसा मसीहों का,
जिनका अपराध
कुँआरी कोखों के नाजायज़ प्यार से
अवतार लेना था ?

कौन है उत्तरदायी
मोटर, ट्रक या ट्रेन से
कुचली गयीं मासूम मरियमों का,
जिनका अपराध
कुँआरी कोखों से
ईसा मसीहों को जन्म देना था ।

बीकानेर

२१ नवम्बर, १९६८

गिद्ध और गाँधी

नयी-नयी उद्घाटित, अनावृत
आदमकद गाँधी की प्रतिमा पर
लम्बी लाल चोंचवाले
विकराल गिद्ध को
डैन फड़फड़ाकर मँडराते देखा,
तो मुझे मेरी कविता का कथ्य मिल गया,
और देश को अपना बिम्ब ।

बीकानेर — १५ अगस्त, १६७४

आत्म-हत्या और कविता

मेरे मित्र !
तुमने केवल आत्म-हत्याओं के बारे में
सुना है । पढ़ा है । सोचा है ।
मैंने आत्म-हत्याओं को
बहुत क़रीब से देखा है, परखा है ।
उन्हें अनेक स्थितियों में भोगा है ।

मैं जहाँ रहता हूँ,
वहाँ एक आत्म-हत्या रोज़ होती है ।
एक नक्षत्र रोज टूटता है ।
एक गुब्बारा रोज़ फूटता है ।

वर्ष की धुरी पर दिनों का चक्र
अनेक आत्म-हत्याओं को अपने वृत्त में लपेटे
एक-सी गति से चलता रहता है ।
समय की गति पर इन आत्म-हननों का
कोई वजनदार असर नहीं पड़ता ।

चाँद-तारों की साक्षी में
संख्यातीत रूपों में
मैंने होम दिया है स्वयं को,
उस वस्तु को,

जिसे आत्मा कहते हैं,
या भावना कहते है,
और उसकी मरण-चीखें
नीरव रात्रि में
सिर फोड़-फोड़ कर नष्ट हो गयी हैं।

बादलों-हवाओं की साक्षी में
मैंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी हैं।
अपने आप से।
हर लड़ाई में क़त्ल कर दिये हैं मैंने
आदर्श और आस्थाएँ।
उनकी क़त्ल पर
केवल बिजलियाँ तड़प गयी है,
या सुदूर बस्ती के पेड़-पौधे
सिर झुकाकर रो लिये है,
या बागों के उदास कोने सिसक लिये हैं।

आत्म-केन्द्रित घुटन की साक्षी में
मैंने आहुतियाँ दी हैं
अस्तित्व और अहं की,
और ये आहुतियाँ
किसी सस्ते होटल के
टूटे फर्निचर में खो गयी हैं,
या चाय-कॉफी की प्यालियों में डूब गयी हैं,
या सिगरेट के छल्लों में मँडराकर विलीन हो गयी हैं।

मेरे मित्र !
मेरे जिस्म के इन्च-इन्च में

जहर भरा हुआ है :
अनेक मरी हुईं सुबहों का।
सड़ी हुईं बहारों का
अनेक संवेदनाओं को
मैंने शराब की तरह पिया है;
आत्म-हत्याओं को
जिन्दगी की तरह जिया है।

यह जो अब भी मैं तुम्हें
जिन्दा नजर आता हूँ,
तो केवल इसलिए
कि आत्म-हत्या मेरे साथ
स्टेज की कोई प्रेमिका नहीं है,
बल्कि गृहस्थ सह-धर्मिणी है।
मेरे मन के किसी अछूते एकांत में
एक शक्ति भी तैनात है,
एक रक्षा-सैनिक की तरह,
जिसे मेरे जिस्म के
रोम-रोम में बसा हुआ जहर भी
मिटा नहीं सकता। पस्त नहीं कर सकता।

मेरे मित्र !
उस शक्ति की संजीवनी ने
मेरी आत्म-हत्याओं को
हमेशा जीवन-दान दिया है,
जिसके सहारे मैंने
अनेक संवेदनाओं को
शराब की तरह पिया है;
अनेक आत्म-हत्याओं को
जिन्दगी की तरह जिया है !

बीकानेर 10 जून, 1966

बीसवीं सदी का आदमी

मशीनी सम्बन्धों और मशीनी क्रियाओं में व्यस्त,
मशीनी हाथ-पाँव,
मशीनी हृदय, मशीनी मस्तिष्क लिये
मैं मशीनी सभ्यता का एक मशीनी आदमी,
अभिनयों के जगत में,
कल-पुर्जों-सी उलझनों के बीच
जी रहा हूँ एक ज़िन्दगी
स्व-चालित,
यन्त्रवत्,
एकरंग । एकरूप । एकरस ।

चीनी-दीवार-सा आर्थिक घेराव,
कौंधती बिजली-सी परेशानियाँ,
दुश्चरित्राओं की तरह धोखा देती औपचारिकताएँ
सपनों से खेलती हुई प्रवञ्चनाएँ,
सत्यं, शिवं, सुन्दरं से चिपके हुए मुखौटे,
मेरे चारों ओर खड़े हैं
लाक्षागृह ही लाक्षागृह !

इन गोरखधंधों में उलझा हुआ,
मैं बीसवीं सदी का आदमी,
खड़ा हूँ एक इकाई-सा
बनकर प्रश्न-चिन्ह अपनी ही इकाई पर !

अनेक दृष्टियों से मापते हुए
अनेक कोण।
अनेक परिधियों में बाँटती हुई
अनेक परिभाषाएँ।
अनेक परिचयों में बाँधते हुए
अनेक निरर्थक शब्द।
पता नहीं कितने-कितने खण्डों में
विभाजित हो गया है मेरा व्यक्तित्व।

गति में संशय,
संकल्पों में भ्रम,
मतों की विभिन्नताओं के कुचक्र,
विचार-धाराओं के झंखाड़,
राय की वक्र घाटियाँ,
कुण्ठाओं के गन्दे नाले,
व्यक्तित्वों के सतही मापदण्ड,
समझ के नये-नये फार्मूले—
इन सबने बना दिया है मुझे
चलता-फिरता एक अजायबघर।

वर्गों में बँट गयी है मेरी आत्मा,
सम्पर्कों में क़ैद है मेरा रचनाकार,
दायरों में खण्डित है मेरा स्वत्व,
आन्दोलनों में विलुप्त है मेरा अहं,
जो मैं भीतर हूँ,
वह बाहर नहीं,
जो मैं बाहर हूँ,
वह भीतर नहीं।

मञ्च के सिद्धहस्त विलेन की तरह
केवल शब्दों को भोगता हूँ,
अर्थों से बचता हूँ।
शब्दों को खाता हूँ, शब्दों को पीता हूँ।
शब्दों को ओढ़ता हूँ, शब्दों को बिछाता हूँ।
शब्दों को पहनता हूँ, शब्दों को उतारता हूँ।
मैं कोरे शब्दों का जादूगर,
शब्द और कर्म के बीच
डालता हूं अपारदर्शी दीवारें।
अर्थों से परे शब्दों में
जी रहा हूँ एक जिन्दगी
स्व-चालित,
यन्त्रवत्,
एकरंग। एकरूप। एकरस।

बीकानेर — १० जून, १९५४

बन्द तहखाने

यह दुनिया बन्द तहखानों का
एक अस्पताल बनती जा रही है।
बन्द तहखानों का हुलिया एक जैसा है,
हुजूम एक जैसा है,
मर्ज़ एक जैसा है।

बन्द तहखानें या तो नहीं ही खुलते हैं,
या फिर चोरी-छिपे, यदा-कदा
इस तरह खुलते हैं कि लोग उनके राज़ का
अंदाज ही नहीं लगा सकते!

बन्द तहखानों की एक निजी दुनिया है—
गलाजत-भरी। अदावत-भरी। शरारत-भरी।
खुल जाने पर भीतर की उमस और गन्दगी के
सत्य के खुल जाने का खतरा रहता है,
इसलिए बन्द तहखानें हमेशा बन्द ही रहते हैं।

बन्द तहखानों के बाहरी दरवाजे
जब आपस में बतियाते है,
तो बहार और मौसम के बारे में
दिलचस्प जिज्ञासाएँ प्रकट होती हैं,
लेकिन उनके भीतर बहती हुई गन्दी नालियाँ
भीतर-ही-भीतर सड़ांध फैलाती रहती हैं।

बन्द तहखानों के पास दो भाषाएं हैं—
एक प्यार की और दूसरी संहार की।
बन्द तहखानों की दो परम्पराएँ हैं—
एक सुनीति की और दूसरी अनीति की।

बन्द तहखानों का लक्ष्य हर खुले दरवाजे को
बन्द तहखाना बना देना है,
भीतर की दुनिया को बाहर की दुनिया से
बेगाना बना देना है।

बन्द तहखानों को भय है
कि कहीं खुले दरवाजे
वे चाबियाँ न खोज निकालें,
जिनसे बन्द तहखानें खुल जाते हैं,
तथा उनका राज़ जग-जाहिर हो जाता है।

इसलिए सब बन्द दरवाजे
पंक्ति-बद्ध होकर एक राष्ट्र-गीत गा रहे हैं,
जिसमें खुले दरवाजों के लिए अश्लील गालियाँ हैं,
तथा बन्द तहखानों के लिए
बेलगाम प्रशस्तियाँ हैं।

नागौर   २५ मई, १९७१

खलनायक से

तुम भी कैसी लड़ाई लड़ते हो दोस्त !
क्या अँधेरे में तीर चलाना ही
तुम्हारी बहादुरी है ?

मैं तो समझता था
कि तुम्हारा जीवन-दर्शन
आमने-सामने की मुठभेड़ है।
तुम्हारी आँखों से अग्नि-वर्षा होती है,
जिससे तुम्हारे दुश्मन भस्म हो जाते है।
तुम्हारी वाणी से
वज्र की प्रतिध्वनि होती है,
जिससे विरोध के कान बहरे हो जाते है।

कितनी ग़लत सिद्ध हुईं ये अपेक्षाएँ !
तुमने लड़ाई भी लड़ी
तो शतरंज के चतुर खिलाड़ी की तरह !
तुम मेरे सामने तो समर्पित रहे,
पर अपने मोहरों के माध्यम से
मुझे मात देने के करिश्मे ईजाद करते रहे !

क्या प्रकाश से लड़ते समय
अँधेरे का यही हश्र होता है ?

सुबह से शाम, शाम से सुबह
तुम दांव-पेचों की
तिकड़मी योजनाएँ बनाते रहे,
अपने द्वारा प्रज्वलित ईर्ष्या की आग में
स्वयं ही झुलसते रहे,
लोगों के दिमागों में
मेरे विरुद्ध घृणा के बीज बोते रहे,
और सत्य के खिलाफ़
साजिश के किले बनाते रहे !

मैंने कितनी बार तुम्हारा आह्वान किया।
कितनी बार तुम्हें
पर्दों से बाहर आने की प्रेरणा दी !
मैं तुम्हारे चेहरे पर
ओज-भरा पौरुष देखना चाहता था !

आज पता चला
कि पर्दों का अँधेरा ही
तुम्हारा जीवन-दर्शन है !
शिखंडी की ओट में ही
अर्जुन के तीर चलते हैं !
शतरंज के दांव ही
तुम्हारी रण-नीति हैं !

अब तुम चाहो तो
अपनी विजय घोषित कर सकते हो !
सत्य का अर्थ तो
आमने-सामने का युद्ध होता है।

छद्म और साज़िश से
सत्य की कोई समता नहीं

तुम चाहो तो अब
मेरी पराजय का सुख भोग सकते हो,
लेकिन निर्णायक स्थिति में
तुम्हारी जीत पर मुझे पूरा सन्देह है।

बीकानेर २० अगस्त, १९७५

ग़ज़ल

मातमी धुन पर सुनी हैं जिन्दादिल शहनाइयाँ,
टूटने पर भी क़लम लिखती रही है बाग़ियाँ ।

घुटन में डूबी सुबह हर, ग़म में डूबी शाम हर,
घेरती हमको रही हैं हर तरफ़ परछाइयाँ ।

एक साज़िश से लड़ें यह थी हमारे वश की बात,
हर तरफ़ साज़िश ही साज़िश, क्या कहें बरबादियाँ !

फिर भी हम लड़ते अगर वे सामने होते खड़े,
साज़िशों से उनकी यारी, ज़ुल्म उनके काइयाँ ।

गीत से उनको है नफ़रत, कलम से उनका है बैर,
मौसमों में भर गये वे तल्ख़-सी वीरानियाँ ।

हों मुबारक तुमको अपने तन-बदन की नफ़रतें,
है उजाड़ी तुमने रौनक महफ़िली आबादियाँ ।

हम तो जी लेंगे हमारे हौंसलों की मौत पर,
खँडहरों में भी बजी हैं एक दिन शहनाइयाँ ।

तुम कहो क्या हाल होगा, गर तुम्हें मिल जाय ग़म,
क्या तुम्हारी अमर हैं ये ज़ुल्म की आज़ादियाँ ?

है हमारे पास अपनी शायरी का ज़िन्दा साज़,
तुम मगर टूटे तो फिर कैसे सहोगे हानियाँ ?

वक्त जिसको तोड़ दे, वह फिर कभी उठता नहीं,
कब भरी मन की दरारें, कब पटी हैं खाइयाँ !

जी रहे है लाश बनकर क़लम के विश्वास पर,
आँधियों ने कब उजाड़ीं नीव की गहराइयाँ ?

धीरे-धीरे टूट मेरे दिल जरा धीरे-से टूट,
क़लम ने संसार में दी सैकड़ों क़ुर्बानियाँ ।

दम भरा करते थे जो हमदर्द औ' हमराज का,
दे दग़ा ऐसे गये ज्यों राख-से चिन्गारियाँ !

कोई संगी, कोई साथी, अब नजर आता नहीं,
साथ देती जा रही हैं ग़ज़ल की तन्हाइयाँ ।

बीकानेर — २० जनवरी, १९७६

ग़ज़ल

मौन रहने में मजा है क्या कहें हम दिल की बात,
चोट अपनों से लगी है, दुश्मनों की क्या बिसात !

जिगर पर पत्थर पड़े हैं, जीभ पर जंज़ीर है,
ज़िन्दगी में ग़म–ही–ग़म है, क्या कहे हम ग़म की बात!

दर्द को कैसे ज़ुबाँ दें, कलम को आती है लाज,
रोशनी चेहरे पे ओढ़े, दिल में है खामोश रात ।

एक–दो की बात हो तो हाल ज़ख्मों का कहें,
ज़ख्म की महफ़िल सजी है, ज़ख्म जीवन की बरात।

ज़ख्म दुनिया ने दिये उनका तो कर लेते इलाज,
ज़ख्म अपनों ने दिये, मक्कार है जिनकी जमात ।

अब विभीषण सामने है, सामने जयचन्द है,
क्या लड़ें चौहान, रावण, खून में चीते-सी घात !

प्यार में साजिश छिपाये ज़हर है उनकी मिठास,
दे रहे शह प्यादियों से, मात पर देते हैं मात !

दोस्ती अंदाज़ में, औ' वार है बुनियाद पर,
कितना प्यारा उनका रिश्ता, कितनी शोभाऊ कनात !

इश्क़ में ग़ैरत–ही–ग़ैरत, साज़िशों का है कमाल,
बात फूलों की कहें, ग्रो मारते ज़ख्मों पे लात !

ग्राज धीरज की परीक्षा, ग्रावरू पर शह लगी,
ग्राँधियों का शोर है, पर क़लम को मंज़िल है ज्ञात।

बीकानेर

२७ जुलाई, १९७६

पूर्वी बंगाल पर पाकिस्तानी सेना के
पहले बर्बर हमले के सन्दर्भ में

एक नज़्म

गर्म शीशे-सी कानों में ये पिघल गयीं आवाज़ें,
अँधेरों-सी आँखों में ये उतर गयीं आवाज़ें।
ये जहन्नुम के दरिन्दों की निकली सवारियाँ,
कि फैल गयीं फ़िज़ाँ में घायल मौसम की आवाज़ें।

गायों-सी रम्भाती आवाज़ें, भेड़ों-सी मिमियातीं आवाज़ें।
चाकू-सी छीलती आवाज़ें, आरे-सी चीरतीं आवाज़ें।
ये हिटलरी के हाथ लुटे गली, हाट, चौराहे,
बच्चों की रिरियाती आवाज़ें, माँओं की घिघियाती आवाज़ें।

सड़कों पर लाशों-सी ये पसर गयीं आवाज़ें,
शहरों से लुटेरों-सी ये गुज़र गयीं आवाज़ें।
तहज़ीब के दुशाले पर लो उग आये पैबन्द कई,
रोम-रोम को सुइयों-सी ये वेध गयी आवाज़ें।

चेतना में चींटियों-सी चँट गयी आवाज़ें,
तन-मन पर साँपों-सी ये रेंग गयीं आवाज़ें।
लो नादिरी हकूमत का अब नया दौर जागा है,
टूटे हुए जिस्मों की ये टूट गयीं आवाज़ें।

न श्लोकों और ऋचाओं की ये क़ाफ़िरी आवाजें,
न सोमनाथ-वृन्दावन की ये जाहिली आवाजें।
इस्लाम ने इस्लाम से जेहाद आज छेड़ा है,
क़ुरान से ही क़ुरान की ये हलाक हुईं आवाजें।

मदरसों में उस्तादों की क़त्ल हुई आवाजें।
अजानों से अजानों की ये खत्म हुईं आवाजें।
क्या रंग लाया है फ़िजाओं में शहीदों का लहू,
कि आखिरी क़तरे तक ये जूझ रहीं आवाजें।

बीकानेर 13 मई, 1971

बारूद का त्योहार

(पूर्वी बंगाल के मुक्ति-संग्राम की पृष्ठभूमि में)

बाज़ार में भीड़ का रेला बह रहा है।
लोग मिठाइयाँ, पूजा का सामान,
बर्तन, कपड़े, और दूसरी चीज़ें ख़रीद रहे हैं।
दीवाली का त्योहार है,
अपार भीड़-भाड़ है।

भीड़ में सैकड़ों को पाता हुआ
मैं खुद को खोजता भटक रहा हूँ।
अंत में आतिश की दूकान पर पहुँच जाता हूँ।
आतिश की दूकान पर ग़ज़ब की भीड़ है।
बच्चों को बारूद से खेलने का शौक़ होता है।

यदि समझदार लोग भी
बारूद से खेलने के लिए
मचल पड़ें तो!

बारूद से त्योहार भी मनाये जा सकते हैं,
और युद्ध भी लड़े जा सकते हैं!
सीमाओं पर समझदार लोगों ने
बारूद के खिलौने सजा दिये हैं—
एक चिन्गारी की प्रतीक्षा है।

[illegible]

केवल एक चिन्गारी !.........
और.........और...........?

आकाशवाणी ने घोषणा करदी है—
सीमा का बारूद
त्योहार के बारूद से अधिक जरूरी है।

अचानक ही मुझे बांगला देश याद आता है।
दिमाग में एक तस्वीर उभरती है,
जिसमें आदमी के जानवर में बदल जाने की
कहानी रची है धुएँ के रंगों में।

मुझे कभी-कभी बांगला देश
सचमुच याद आ जाता है।
जब मैं अपनी पत्नी को
बहुत करीब से देखता हूँ,
तो मुझे वह बंगालिन याद आ जाती है,
जिसके जिस्म के साथ
चन्द्र-युग के आदमी ने
प्रस्तर-युग की बदतमीजी की है!

या मुझे बांगला देश तब याद आता है,
जब लोग अपनी बीवियों को कांख में दबाये
भीड़ बनकर त्योहार की चीजें खरीदते घूमते हैं।

इस सबके बावजूद भी
मैं बांगला देश के लिए
कोई गर्म कविता नहीं लिख सकता।
न कोई जोशीला गीत,

या दर्दीली धुन ही रच सकता हूँ।
सच पूछें तो मेरे पास
ऐसी कोई गहरी संवेदना ही नहीं है।

मैं बांगला देश के लिए
कोई बड़ी कुर्बानी भी नहीं दे सकता।
कुर्बानी स्टेज पर गूंजते नेता ही दे सकते हैं।

अपनी जमीन और पहचान से अलग छिटके हुए,
बिखरे हुए, टुकड़ों में बँटे हुए
और शिकस्त खाये हुए,
एक बंगाली को देने के लिए
मेरे पास रखा ही क्या है!

मेरे जैसा एक औसत हिन्दुस्तानी,
जो अपनी जिन्दगी को भी
परायी जिन्दगी की तरह जी रहा हो,
एक बदनसीब मुल्क के
एक बदनसीब आदमी को दे ही क्या सकता है,
खाली इन चन्द वाहियात शब्दों के सिवाय,
जिन्हें जोड़-तोड़कर
सहानुभूति बनाया जा सकता है,
या जिनसे कविता लिखी जा सकती है!

सहानुभूति कोरे शब्दों का भरत-मिलाप है,
और कविता किसी के दर्द को समझने में
मदद तो दे सकती है,
पर किसी दर्द की दवा नहीं बन सकती!

अब जब बारूद से खेलते, हँसते-नाचते
बच्चों को देखता हूं, तो डरता हूं
कि कहीं समझदार लोग भी
बारूद से खेलने के लिए बच्चे न बन जायें !

मेरे धर्म-ग्रन्थों में लिखा है
कि जिन्दगी की सबसे पीड़ा मौत होती है,
जैसे हजारों बिच्छुओं ने एक साथ काटा हो !

मौत चाहे याह्याखाँ के सिपाही की हो,
चाहे इन्दिरा गांधी के सिपाही की—
मौत मौत होती है ।
मरणोपरांत दी गयीं उपाधियों से
मौत का दर्द कभी नहीं बंटता ।
जिस किसी को भी इस पर शक हो,
वह मरकर देख ले !

मौत जैसी ही पीड़ा तब होती है,
जब औरत को
एक पराजित नगर की तरह
लूटा-खसोटा जाता है,
जैसे भूखे भेड़िये एक साथ एक मेमने पर टूट पड़ते हैं !

अब आप चाहें तो बेशक
मेरी देशभक्ति पर एतराज कर सकते हैं,
क्योंकि मैं कहता हूं
कि बांगला देश में हुई एक बदतमीज़ी का उत्तर
कोई दूसरी बदतमीज़ी नहीं हो सकती ।

क्षमा करें,
मैं युद्ध को मानव जाति की
सबसे बड़ी बदतमीजी मानता हूँ !

सच की जीत, और झूठ की हार
तो निहायत जरूरी है;
जिससे गड्ढ़ा पटता है,
पर मौत का दर्द न कभी बँटा है।
न कभी बँटता है।

बीकानेर (दीपमालिका) १८ अक्तूबर, १९७१.

भूख बोलती है

मेरा वतन हिन्दुस्तान है,
जहाँ करोड़ों लोगों से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है।
मैं सड़कों पर, फुटपाथों पर,
गलियों में, चौराहों पर,
खलिहानों में, राजपथों पर
जम्हाइयाँ लेकर करवटें बदलती हूँ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

गाँव के रंगीन हरे आंचल में
जब खेतों के दूधिया दाने
सितारों की तरह चमकते हैं,
जब मेहनत का खून
गेहूँ की बाली बनकर फूटता है,
पसीना चावल बनकर चमकता है,
तब मैं सुरसा बनकर
इन हसीन खेतों को निगल जाती हूँ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

लहरें जब समुद्र-तट पर
मद्धिम-मद्धिम राग आलापती हैं,
तब मैं कारखानों में

काले कपड़े पहनकर अँगड़ाइयाँ लेती हूँ,
मिलों की चिमनियों से
मेरा धुआँ निकलता है ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

मैं सभ्यता की खोखली हँसी हूँ ।
संस्कृति का मंद चिराग़ हूँ ।
इन्सानियत की ग़ोलामी हूँ ।
वैभव की कंगाली, और
रौनक़ की नग्नता हूँ ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

मैं खुशहाल धरती का वैधव्य हूँ ।
ऋतुराज की कोख में छिपा पतझड़ हूँ ।
मैं वंशी का तड़पन हूँ ।
इन्जिन की चीख़ हूँ ।
सरगम का मातम, और
अट्टहास का कुहराम हूँ ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

मैं आज़ाद मुल्क का कलंक हूँ ।
गीतों की बेहोशी हूँ ।
सपनों का मरघट हूँ ।
मैं विधवा की मौन व्यथा, और
शोषण की शब्द-हीन कथा हूँ ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

— शैलराम सै

मैं गुनाहों की आख़िरी दास्तान हूँ !
मेरी ज़ुबान बन्द सही,
पर मैं एक छल या एक फ़रेब नहीं हूँ ।
मैं कल्पना या प्रवञ्चना नहीं हूँ ।
मेरा मौन ही एक अभिव्यक्ति है,
जो समय का अंतराल पाकर
स्वयं प्रकट होती है ।
तुम मेरा परिचय क्यों पूछते हो !

चूरू

१२ जनवरी, १९६०

अकाल-ग्रस्त क्षेत्र की कविता

पेट का हल न देश-भक्ति है,
न राजनीतिक आश्वासन;
भूख का समाधान न आंकड़ा है,
न योजना-बद्ध व्याख्यान।

भूख की भाषा रोटी है,
पेट का रिश्ता अनाज है।

देह और देह के बीच
पेट एक दीवार है।
प्यार-इश्क करते हैं [illegible]
आटे के आगे [illegible] हैं।

भूख का नहीं होता कोई आदर्श,
नहीं होती कोई जात;
नहीं होती कोई राजनीति,
नहीं होती कोई संस्कृति।

देह के [illegible] की कथाएँ
पेट के [illegible] से हैं।

नियम ढह जाते हैं,
पहरे टूट जाते हैं।

समय की पीठ पर
जब भूख सवार होती है,
सल्तनत बदल जाती है,
इमारत खण्डहर हो जाती है।

पेट न उपदेश खाता है,
न भाषण।
पेट न नक्शे चाटता है,
न योजनाएँ।
पेट न परेडों पर रीझता है,
न झाँकियों पर।
पेट पर न नगर बनते हैं,
न राजधानियाँ।

पेट और अन्न के वियोग पर
ठप्प हो जाते हैं कारखानें,
नहीं उड़ते वायुयान,
नहीं चलते वाहनों के पहिए।
इतिहास साक्षी है
कि जब-जब भूख तड़पी है,
भुजा फड़की है।

पेट में पराजित होती है
भावना। साधना। सभ्यता। संस्कृति।
पेट की भव्यता रोटी है,
भूख की सभ्यता अनाज है।
अभाव की भाषा नवीन सर्जन है,
अभिशाप की भाषा परिवर्तन है।

बीकानेर ५ अप्रैल, १९६६

गाँधी शताब्दी वर्ष के सन्दर्भ में

हत्या : एक और

मुझ पर ही क्यों लाद दिया गया है
कवि होने का बोझ
कि न तो किसी जश्न में शरीक हो पाता हूँ,
न किसी महफ़िल में;
न किसी प्रवचन में,
न संगोष्ठी में।

हर जश्न, महफ़िल, गोष्ठी में
एक लाश घूमती नज़र आती है,
लगता है शपथों। नारों। वायदों की
तीन गोलियों से
एक बार फिर गांधी की हत्या की जा रही है!

यहाँ न कोई देवता है, न कोई भक्त;
न कोई प्रतिमा है, न कोई मठ;
रघुपति राघव राजा राम
कुर्सी=अल्ला। रिश्वत=राम!

गाँधी के तैल-चित्रों के नीचे
जेबें गर्म होती हैं तो, कागज़ टाइप होते हैं,

राजनीतिक रिश्ते होते हैं
तो उन पर 'साइन' होते हैं।

भाषण। भाषण। भाषण। भाषण
अंगूरों का फलाहार
और सादगी पर भाषण !
रसगुल्लों का रस
और शोषण-हीन समाज पर भाषण !
मोटरों पर यात्राएँ
और मितव्ययिता पर भाषण !
'कमीशन' जेब में
और सत्यमेव जयते पर भाषण !
भाषण। भाषण। भाषण। भाषण

सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते !
सीमेंट में रेत,
दूध में पानी,
वायदों में धोखाधड़ी,
राजनीति में दल-बदल,
सपनों में छल-कपट !
सत्यमेव जयते ! सत्यमेव जयते !

लगता है कि गांधी की फटी-फटी सूनी आँखें
तमाम फ्रेमों के शीशे तोड़कर
पछाड़ खाकर गिर पड़ेंगी।

सफेद परिधानों में रेशमी खटमल
चिपके हैं देश की आत्मा से,

गाँधी महात्मा से !
गाँधी हमारे लिए एक ऐसी सचाई है,
जैसे किसी भव्य इमारत पर
"कुटीर" लिख दिया गया हो !

बीकानेर १० अक्टूबर, १९६६

एक अंत-हीन यात्रा

पशुओं का अनुभव प्राप्त करने के लिए
मुझे मिली है आदमी की देह।
एक मंजिल के पास पहुँचकर
जब सांस लेने की बात सोचता हूँ,
तो दूसरी मंजिल की क्रूरता
आंखों के सामने कोहरे के छाते तान देती है
मैं उन पगडंडियों की तलाश कहाँ तक करूं,
जिन्हें प्राप्त करने में
जीवन एक अंत-हीन यात्रा बन जाता है,
और तमाम आत्म-विश्वास
थके हुए बैलों की तरह
यात्रा के मध्य सांसें तोड़ देते हैं!

हर अंतिम सीढ़ी पर पहुँचकर पाता हूँ
कि एड़ियाँ फिसल गयी हैं।
कल्पनाओं को जब योजनाओं में ढालता हूँ
तो पाता हूँ कि वे ज़िन्दगी की धूप पीकर
पिघल गयी हैं।
जब किसी सुबह में अपना प्रतिबिम्ब खोजता हूँ
तो एक निर्मम दोपहरी ठण्डी आह-सी पसर जाती है।
जब कभी दोपहरी को अपना अर्थ देता हूँ
तो एक सूनी सांझ मुझे घेर कर खड़ी हो जाती है।

परायी अमानत की तरह मिली है यह ज़िन्दगी,
जिसकी ताल में मेरी ध्वनि नहीं है,
गीत में मेरा छन्द नहीं है,
जुए में मेरा दांव नहीं है।

किस-किस तराजू पर मैं तोला गया हूँ !
किस-किस वेदी पर समर्पित किया गया हूँ !
किस-किस अग्नि-परीक्षा में झोंका गया हूँ !

एक बार मैंने अपने कोट के बटन-होल में
कुछ गुलाब टाँगे थे,
जेब में रंगीन रूमाल खोंसे थे,
उन्हें अब फ़र्ज़ के यज्ञ में होम दिया है !
कभी-कभी उन रूमालों और गुलाबों की प्रेतात्माएँ
मेरी अतश्चेतना के श्मशानों में जाग पड़ती हैं,
और मेरे जिस्म के रोम-रोम को दहलाकर
अपनी चिताओं में लौट जाती हैं।

बने-बनाये नन्द क़ानूनों-संस्कारों ने
आदमी को एक चरमराती गाड़ी में जोत दिया है,
जो कुछ उसने चाहा नहीं, माँगा नहीं,
उसे भोगने के लिए उसे अकेला छोड़ दिया है।
अब यह न तो आत्म-हत्या ही है,
न जीवन ही है,
बल्कि केवल जुते रहने की मजबूरी है।
ढेर-सारे प्रश्न-चिन्हों की भीड़ अनुत्तरित है;
पड़ाव पर पड़ाव तय करने के बाद भी
ज़िन्दगी एक कभी-ख़त्म-न-होने वाली दूरी है।

दूरियों को समीप लाने की बलवती इच्छाएँ
शुतुर्मुर्ग की तरह रेत में धँस रही हैं,
विष-कन्याओं की तरह मिली हुई परिस्थितियाँ
हर मोड़, हर चौराहे पर डस रही हैं।
केवल इतना ही विश्वास शेष है
कि न तो मेरा कोई इतिहास है, न देश है,
न धर्म है, न परिवार है, न परम्परा है।

मेरी एक टूटन है !
मेरी एक कोढ़ है !
मेरी एक नफ़रत है !

बीकानेर — १ फ़रवरी १९७०

इक्कीसवाँ गणतंत्र-दिवस, और एक कन्फ्युज्ड मतदाता

[संसद के मध्यावधि चुनाव. १९७१ की पृष्ठभूमि में]

नेता कहता है—मत का दुर्पयोग मत करो ।
मन कहता है—मत का उपयोग मत करो ।
या तो नेता सच्चा है, या फिर मेरा मन ।
या तो जो-कुछ है. वह गोरखधंधा है,
या फिर मेरा मन सावन का अंधा है ।

पिछले बीस वर्षों में
हर वर्ष जोशीले भाषण सुनकर,
और देश-भक्ति की गर्म कविताएँ सुनकर
अचानक ही मैं
इस इक्कीसवें गणतंत्र-दिवस पर
सहम कर ठहर गया हूँ ।

गणतंत्र की उम्र को
मतदाता की उम्र से नापकर
मैं हैरान हो रहा हूँ
कि अब तक न तो पचा पाया मैं कोई भाषण
न ही बचा पाया कोई नयी कविता !

जब गणतंत्र में शब्द
अपनी अर्थवत्ता से तलाक़ ले चुके हों,
वहाँ भाषा की चमक-दमक में
कैसे जुड़ सकती है कोई कविता !
खाली दिमाग के वियावान में,
कैसे ठहर सकता है कोई भाषण !

खाली दिमाग खाली शैतान का ही घर नहीं है,
इक्कीसवें गणतंत्र-दिवस के
एक मतदाता का भी घर है।
मैं परेशान हूँ कि इक्कीस वर्षों में
पला-पुसा मेरा जवान मत
आज एकाएक गूंगा कैसे हो गया !

दरअसल मेरे पेट में
खलबली मचा रहे थे कुछ बुनियादी सवाल,
जिनका जवाब,
इतिहास को रौंदते,
पिछले बीस गणतंत्र-दिवसों में से
किसी एक भी दिवस के पास नहीं था।

अब ये बुनियादी सवाल
दरअसल बुनियादी सवाल ही थे,
जिन्हें न तो चित्रपट-संगीत से
बहलाया जा सकता था,
न पैंट, पेटीकोट,
और साड़ी-जम्पर से !

इक्कीसवीं मंज़िल पर ठहरकर,
मुझे यह तीखा अहसास हुआ
कि अब तक मैं
वायदों की हरी-भरी
वादियों में ही भटकता रहा,
रास्ते का पता बतानेवाला हर नारा
मेरी आस्था पर
एक अंगारा बनकर झड़ता रहा,
हर बार रोशनी का एक झाँसा,
एक आरे की तरह
मेरे दिमाग़ को दो पाटों में चीरकर,
इतिहास की काल-कोठरी में क़ैद होता रहा !

यह कोई बहुत पुरानी बात नहीं है,
बल्कि कल की ही बात है,
जब राजधानी के राजमहलों से
मेरी सारी समस्याओं के हल
आकाशवाणी पर तैरते हुए
फ़िज़ाओं में बिखर रहे थे।
कुछ नये आश्वासनों के घड़े
मेरे कानों में अमृत भर रहे थे।
तब मैं भी कविता-सा बहकने लगा था,
और शायराना अंदाज़ में कहने लगा था—
भटकाव हर यात्रा को मुश्किल बना देता है,
पर मोड़ हर मुश्किल को मंज़िल बना देता है।

लेकिन एक छोटे-से अंतराल ने ही
मेरी कविता को बचकाना साबित कर दिया,

उनके वायदों को सब्ज़बाग़
और योजनाओं को
राजनीतिक घोषित कर दिया।

तब से ही मेरा यह दिमाग़,
अपने केन्द्र से फिसलकर
धुरी-हीन हो गया,
मैं वायदों। सपनों। मोड़ों। नारों।
दावों। अदाओं के मेले में
रंग-बिरंगे खिलौनों में अटके
एक नासमझ बच्चे-सा खो गया।

ऐसा उस दिन भी हुआ
जब इस महान् गणतंत्र के
अधिपति के चुनाव का सवाल था।
मुझे समझाया गया
कि यह दरिद्रता और समृद्धि के बीच
आखिरी खाई है,
रोशनी और अंधकार के बीच
आखिरी तनातनी है।

उस दिन ट्रांजिस्टरों और रेडियो-सेटों की
एक-एक घोषणा
मेरे रक्त में
एक-एक लकीर खींच रही थी।
एक-एक फैसला मेरे दिमाग़ में
बिजली के करेण्ट-सा झनझना रहा था।
आज अपनी परेशानी को

मृत बच्ची की तरह अपनी छाती से चिपकाये
अपने पर ही पछताता मैं सोच रहा हूँ
कि उस दिन भावुकता में
मैं कितना बह गया था !

मुझे अब साफ़-साफ़ समझ में आ गया है
कि इस मुल्क में
एक अनाथ रहता है,
जिसे सब लाड़ से कहते हैं समाजवाद;
हर सनसना
इस अनाथ का आशिक बन गया है,
इसे आवारा लड़कियों से बचाने के उपाय सोचता
मेरा दिमाग़
अब एकदम कन्फ्यूज्ड हो गया है।

इस कन्फ्यूज्ड दिमाग़ में
पिछले इक्कीस वर्षों का बयान बन्द है,
और मैं परेशान हूँ
कि मैं इस मन का क्या करूँ !
नेता कहता है—मन का दुरुपयोग मत करो।
मन कहता है—मन का उपयोग मत करो।

लेकिन मैं यह भी जानता हूँ
कि प्रजातंत्र में

मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ
कि आकाशवाणी और लाउड-स्पीकरों की
आवाज़ों और उद्घोषणाओं पर
चौंकना बन्द कर दूं और
तेली के बैल की तरह
अपनी नियति को भोगते हुए
अपने मत को मत पेटी में फेंककर
एक गहरी नींद में सो जाऊं,
और चंद उटपटांग सपनों में
बड़बड़ाकर यथावत् हो जाऊं,
और फिर हमेशा की तरह
अपने धंधे में खो जाऊं।

मैं अब विचार और प्रचार में
भेद करना भूल गया हूँ।
जब गोली चलती है नक्सलबाड़ी से,
या चाकू चलता है अहमदाबाद से,
या घेराव घुमड़ता है उत्तरप्रदेश से,
या बम फूटता है बंगाल से,
या धमाका होता है पंजाब से,
या भूखा मरता है बिहार से,
या अकाल लड़ता है राजस्थान से—
तो मेरी समझ में कुछ नहीं आता।
मैं अखबार पढ़कर जम्हाइयां लेता रहता हूँ।
मैं अब धमाकों और दृश्यों का
अर्थ भूल गया हूँ।
मैं केवल इतना ही समझता हूँ

कि ऐसा तो प्रजातंत्र में होता ही है !
ऐसा तो आज़ाद मुल्कों में चलता ही है !

पिछले दिनों तीन सेठ
राजधानी में एकत्र हुए,
और एक संगठन बन गये।
तब मेरे दिमाग़ का कोहरा छँटने लगा।
मैंने उत्तेजित होकर कहा—
नहीं, मैं कन्फ्यूज्ड नहीं हूँ।
मुझे सब-कुछ समझ में आ रहा है।
तभी इन तीनों के बीच,
हंसों की जमात में कौए-सा,
एक और शख़्स जा बैठा,
जो अपने को श्रम-नेता कहता था।
तब मेरा दिमाग़ फिर गड़बड़ाने लगा।
एक नन्ही-मुन्नी-सी मेरी समझ
नींद में बड़बड़ाने लगी।
मुझे स्वीकार करना पड़ा—
कि मैं कन्फ्यूज्ड हूँ।
मेरा दिमाग़ चक्कर खा रहा है।

अब आज मेरे पास
सवाल खाली रोटी। मकान। कपड़े का ही नहीं है,
सवाल इक्कीस वर्षों के इस जवान मत का भी है।
मैं परेशान हूँ कि मैं इस मत का क्या करूँ।
नेता कहता है—मत का दुरुपयोग मत करो।
मन कहता है—मत का उपयोग मत करो।

बीकानेर — २६ जनवरी, १९७१

कौम

मैं कौम हूँ।
हर जवान, बूढ़े मसीहा की मैं
लाडली परिणीता,
मैं जनता।

मेरे जिस्म पर ऊन उगती है,
जिससे नेताओं के कम्बल तैयार होते है।
मेरे चर्म से चटाइयाँ बनती हैं,
जो युग-पुरुषों के शयन-कक्षों को सजाती है।

दुनिया की हर लड़ाई
मेरा उद्धार के लिए लड़ी जाती है।
मेरे उद्धार करते-करते
लोक-नायकों का उद्धार हो जाता है।

महापुरुष युद्ध की घोषणा करते है,
मैं युद्ध करती हूँ!
महापुरुष जीभ से लड़ते हैं,
मैं जिस्म से लड़ती हूँ!

मेरे शरीर पर घावों के फूल उगते है,
जिनसे राष्ट्रनायकों के लिए

वैजयंतीमाला गूँथी जाती है।
मेरे हाहाकार से
उनकी जयजयकार गूंजती

.. ..

मेरा नाम
सहस्रों लोगों का मिला-जुला
एक अदना-सा अहसास है।
महापुरुषों का नाम
समूचे देश का इतिहास है!

राष्ट्र विजय-पर्व मनाते हैं,
राष्ट्र-नायक उपाधियाँ धारण करते हैं।
उस समय मुझे भी 'शहीद' कहकर
एक अनाम श्रद्धाञ्जलि अर्पित करदी जाती है।

वे राष्ट्र-नायक, युग-पुरुष,
मसीहा, और नेता हैं।
उनके पास शब्दों का जादू है,
जिससे वे एक स्वप्न-लोक की रचना करते हैं।
उस लोक को धरती पर लाने के लिए
मैं अपना सर्वस्व लुटा देता हूँ।
इतिहास की आवृत्ति होती है,
स्वप्न-लोक कोहरे में डूब जाता है।
महापुरुषों का नाम
इतिहास को रच ही चन जाता है।
..............और मैं

अतीत की धुंधली परतों में
चुपचाप हमेशा के लिए
खो जाती हूँ.........चुपचाप............
चुपचाप............!

बीकानेर

११ जनवरी, १६७२

स्वप्न-शोधियों का हास्य-रूपक

उन्हें पता था कि इसी रास्ते से गुज़रेगा
वह मामूली आदमी,
जो बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाओं की लाश को
उसी तरह सीने से चिपकाये घूमता है,
जिस तरह एक पागल कवि मरी हुई बच्ची की
लाश को !

वे जानते थे कि यह मामूली आदमी
मंच की जगमगाहट से चौंधिया जाता है,
यन्त्रों से प्रसारित मीठी वाणी पर मन्त्र-मुग्ध हो जाता है,
और शब्दों के इन्द्रधनुषों पर अपना सर्वस्व लुटा देता है।

इसलिए उन्होंने खोज निकाली एक चमत्कार भाषा,
जो संकल्प-हीन और बंजर थी;
उन्होंने कारीगरों से बनवा लिये कुछ आकाशी क़िले,
और फिर वे मामूली आदमी को
अपनी जादू-नगरी की सैर कराने ले चले।

उनकी जेबें सपनों, नारों और वायदों के फूलों से
ठसाठस भरी थीं,
जिन्हें वे मुट्ठियाँ भर-भर कर
बाज़ारों, चौराहों, सड़कों, फुटपाथों

और ग्रामीण पगडंडियों पर उछाल रहे थे।
फिर उन्होंने भीड़ में खड़े मामूली आदमी के चेहरे को
अनाप-शनाप गुलाल से रँग दिया।
रंक और राजा के मिलने का
यह एक बड़ा ही अद्भुत दृश्य था !

फिर वे विज्ञापन बनकर एक प्लेट फॉर्म पर खड़े हो गये।
उस समय उनकी आवाज़ में
एक अपरिचित क़िस्म का दाहदीलापन था,
उनके तेवर और जुमले
अप्रत्याशित रूप से शिष्ट और शालीन थे।
उनकी मुद्राएँ असाधारण रूप से
दयनीय और सेवा-धर्मी थीं;
और दरिद्रनारायण की आराधना में
उनके एय्याश हाथ सम्पूर्ण श्रद्धा से जुड़ गये थे।

तब प्रारम्भ हुआ इन स्वप्न-शोधियों का
वह हास्य-रूपक,
जिसमें मामूली आदमी को एक सुरक्षा-पहरे में
एक लम्बी क़तार में खड़ा कर दिया था,
ताकि वह खेलखिलौनों वाले लम्बे क़ागज़ों पर
अपनी इच्छा की मोहर चिपका सके,
और उन स्वप्न-शोधियों को यह हक़ दे सके
कि वे मामूली लोगों के जुलूसों पर
एक निश्चित अवधि तक
अश्रु-गैस के गोले बरसा सकें,
लाठियां चला सकें,
और यदि जरूरी हो तो उसके सीनों पर
बारूद की बौछार भी कर सकें !

बीकानेर १० मार्च, १९७२

छब्बीस-वर्षीय युवक

वह छब्बीस-वर्षीय युवक
चौराहे पर खड़ा
करुण नेत्रों से
पूरे माहौल को देख रहा था ।

उसकी आँखों में
क्रम-हीन न्यूज़-रीलों की तरह
कई तस्वीरें आपस में टकराकर
गड्डमड्ड हो रही थीं ।
झण्डे-जलाते नारे,
पत्थर-फेंकते-जुलूस,
कैंची-नुमा-ज़ुबान चलातीं आम-सभाएँ,
बन्द कमरों में खाँसतीं
नाबालिग् महत्वाकांक्षाएँ,
और रेल की पटरियों पर बिछे
अवयस्क सपने ।

छब्बीस-वर्षीय युवक ने मुझे बताया
कि उसका बड़ा भाई
एक बेकार इंजीनियर है
और छोटा भाई जल्दी ही
एक बेकार डॉक्टर बनने जा रहा है ।

उस युवक ने कहा—
जब उसके इलाक़े में अकाल पड़ता है,
तो कुछ गद्दीदार अकाल
उसे एक ही ग्रास में हज़म कर जाते हैं,
मत्स्य—न्याय की कहावत को
चरितार्थ करते हुए।

उस युवक ने बताया
कि मक्खन और फलों का उपभोग करने की
किसी घरेलू परम्परा से
उसका परिचय नहीं है,
पर मक्खन लगाने,
और फलों की टोकरी
अफ़सरों की कोठियों तक पहुँचाने की
सभी परम्पराओं से वह वाक़िफ़ हो चुका है !

उस युवक ने एक दर्द-भरी टीस के साथ कहा—
अनाज के नाम पर रेत फांकना,
और चाय के नाम पर
बिना शक्कर का उबला पानी पीना,
अब उतना ही स्वाभाविक हो गया है,
जितना राशन की क्यू में खड़े-खड़े
लड़ना-झगड़ना, या
पसीना-पसीना होना !

उस युवक ने आगे बताया—
इतिहास-कथित दूध-दही की नदियों पर,
और चाँदी के पेड़ों हर बैठी

सोन-चिरैयों पर
अब केवल रिसर्च ही की जा सकती है,
जबकि देश के नाम पर
एक रक्त-मांस-हीन कंकाल को
सरे आम देखा जा सकता है !

उस युवक ने बताया
कि सपनों और नारों में
एक समय उसकी बेहद दिलचस्पी थी
जो अब दो कारणों से
घोर नफ़रत में बदल गयी ।

एक तो समाजवादी शोरगुल ने
उसके कानों के पर्दे फाड़ दिये,
और दूसरा उसकी प्रेमिका ने
उसका बचा-खुचा विश्वास ही झकझोर दिया ।
वह प्रेमिका एक समय रूमानी आवेग में
उसके साथ जीवन निभाने की
कसमें खाती थी,
पर अब नौकरी पाने के लिए
सचिवालय के एक थलथल अफ़सर के साथ
वह रोमांस रचा रही है ।

उस युवक ने गर्म उसांसें भरते हुए कहा
कि अनेक अंतर्व्यूहों (इन्टरव्यूहों) से
असफलता की तख्ती लटकाकर
सिर्फ इसलिए लौटा दिया गया है
कि उसकी योग्यताओं को

सिफ़ारिशी रिश्वतों, और रिश्तों ने
चोर दरवाज़ों से घुसकर
उसे धक्का मारकर निकाल दिया था।

लज्जा महसूस करते उस शरमीले युवक ने कहा-
"मेरे पिता-श्री संसद,
और माता—श्री विधान-सभा के
नामों से पहचाने जाते हैं।"

छब्बीस-वर्षीय युवक ने कहा—
"मेरे पिता-श्री और माता-श्री
जीभ की विशेष लम्बाई के कारण
विश्व-भर में ख्याति अर्जित करते जा रहे हैं।
उनकी रुचि कार्यक्रमों से अधिक बहसों में,
और योजनाओं से अधिक
बैंक-बैलेंसों और भवन-निर्माणों में है।"

ग्लानि-पूर्ण दीनता के साथ उस युवक ने कहा—
"मेरे माता-श्री और पिता-श्री
मेरे भविष्य के बारे में
एकदम मस्त, और चिन्ता-हीन हैं।"

अंत में उस युवक ने
मेरे कानों में फुसफुसाकर कुछ ऐसा कहा
कि मेरा सारा अस्तित्व ही
एक अकथनीय दहशत से भर गया।

छब्बीस-वर्षीय युवक ने
अडिग आत्म-विश्वास के साथ
धीरे-धीरे कहा—
'जिन्दगी......से......मौत......बढ़कर......है।"

करौली १० मार्च, १९७३

छब्बीस जनवरी, १९७४

गणतंत्र-दिवस है,
और मेरे राष्ट्रीय मञ्च ने
मुझे कविता कहने को बुलाया है।

मिट्टी के तेल बिना स्टोव चुप है,
रसोईघर चुप है ईंधन के बिना;
श्मशान फूंकता है आधा मुर्दा।

घर में मुन्नी रोती है दूध के बिना,
बुढ़ापा खांसता है बेइलाज।
स्कूल छोड़कर मुन्ना
राशन की क़तार में खड़ा है।
गृह-लक्ष्मी का स्टोर है खाली-खाली।

घी और मक्खन
खुशामदियों के पास ही रह गया है।
सारे फलों को खा गया है
लक्ष्मी-पति।
मौलिक अधिकारों से फलता-फूलता जा रहा है
मिल-मालिक का कुनबा।

गणतंत्र-दिवस पर क़वायद करने गया है
भूखा लड़का।

भारत-माता की झांकी में शामिल होने को
बेबी के पास कपड़े नहीं हैं।

कागज़ न अखबारों का पेट भरता है,
न पुस्तकों का।
नये बजट के स्वागत में
ग़ायब हो गयी हैं सिगरेटें।
होटलों ने चाय की क़ीमत चढ़ा दी है।

और गणतंत्र-दिवस का जश्न मनाने को
मेरे राष्ट्रीय मञ्च ने
मुझे कविता कहने को बुलाया है !

मेरे इस महान गणतंत्र में
हर दूकान में दो दरवाजे हैं—
एक बाहर का दरवाज़ा, जो खाली है,
एक पीछे का दरवाज़ा, जो खचाखच भरा है।

जिन्होंने न देखने की कसम खायी है,
वे भूख से मरते आदमी को,
और भरे हुए गोदाम को
एक साथ कैसे देखेंगे ?
जिन्होंने न सुनने की कसम खायी है,
वे गुजरात में मरते आदमी की चीत्कार,
और शीशमहलों में बजती सितार को
एक साथ कैसे सुनेंगे ?

बड़ा ताज्जुब है कि भूखों मरता,
और संविधान को चाटता

एक मुल्क मतदान के मौलिक अधिकार का
उपभोग कर रहा है !
बड़ा तअज्जुब है कि मेरे राष्ट्रीय मञ्च ने
इस शुभ मुहूर्त में
मुझे कविता कहने को बुलाया है !

कविता मैं कहता हूँ,
कविता मैं सहता हूँ।
कविता मैं खाता हूँ,
कविता मैं पीता हूँ।
कविता मैं पहनता हूँ,
कविता मैं बिछाता और ओढ़ता हूँ।
कविता मैं फूंकता हूँ,
और कविता मैं चबाता हूँ।
अब क्या रह गया मेरे पास
कविता के सिवाय !

फिर भी मैं अहसानमंद हूँ
अपने इस राष्ट्रीय मञ्च का,
जिसने मुझे आमने-सामने होने का
मौक़ा तो दिया !
वर्ना कौन श्रोता हो सकता था
इस बेकार-सी कविता का !

बड़ी तमन्ना थी इस रोज यह सुनाने की
कि मेरे इस महान् गणतंत्र में
हर लफंगा लखपति है,
हर धनवान संत है,

हर शिक्षित नौजवान बेरोजगार है
और हर ईमानदार गुनहगार है !

बड़ी तमन्ना थी यह कहने की
कि इस महान् गणतंत्र के पास
आँख है, पर दृष्टि नहीं है,
कान है, पर श्रुति नहीं है,
जीभ है, पर शब्द नहीं है,
भुजाएँ हैं, पर शक्ति नहीं है ।

बीकानेर

२६ जनवरी, १९७४

रोशनी का रहस्य

तीन कम तीस वर्ष पहले
मिले एक पैगम्बर।
बोले—"उधर रोशनी है।
इधर अँधेरा है।
अगर रोशनी तक पहुँचना है तो
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

मैं सारे मत-मतान्तर छोड़कर
पैगम्बर का अनुयायी बन गया।

दस वर्ष बाद मैंने पैगम्बर से कहा—
"देव! अँधेरा बरक़रार है।
रोशनी का कहीं पता नहीं।"

पैगम्बर बोले—बच्चा!
अभी और प्रतीक्षा कर।
रोशनी के मार्ग में
बाधाएँ हैं। भँवर-जाल हैं।
मंजिल की उपलब्धि
भरपूर थकान के बाद होती है।"

पैगम्बर की बात मानकर
मैंने दस वर्ष और प्रतीक्षा की।

जब रोशनी का एक कण भी
दिखायी नहीं दिया,
तो मैंने पैगम्बर से फिर कहा—
"स्वामी दाल में कुछ काला है।
रोशनी अभी भी गुम है।
अँधेरा फैलता जा रहा है।"

पैगम्बर की भृकुटि में एक बल उभरा।
"शंकालु लोग सत्य नहीं खोज पाते।
भई, यह संक्रान्ति-काल है।
रोशनी और अँधेरे के बीच
संघर्ष और तनातनी है।"

तीसरे दशक के अंतिम चरण में
मैं एकदम उकता गया।
मैंने ऊँची आवाज़ में कहा—
"सच बता पैगम्बर !
तुम्हारा रोशनी का नारा
कहीं राजनीतिक तो नहीं है ?"

पैगम्बर ने मुझे
शांत करने के लहजे में कहा—
"भक्त ! पहले रोशनी और अँधेरे की
परिभाषाएँ समझ ले !"

मैंने गरजकर कहा—
"परिभाषाएँ बकवास हैं पैगम्बर !
मुझे रोशनी का सही पता दता !"

स्वयं से संवाद : एक आत्मालाप

यातना का दीर्घकाय काल,
और स्मृतियों से चिपके
सैकड़ों शहदीली मक्खियों के
जहरीले दंश !

प्रतिमा का खण्ड-खण्ड होकर बिखरना !
मर्यादा का जीर्ण-शीर्ण होकर ध्वस्त होना !
आस्थाओं का तिरक-तिरक कर विकीर्ण होना !
शक्तियों का क्रम-क्रम में क्षय-ग्रस्त होना !

ये सब कुछ अनहोनी बातें नहीं है।
वचनाओं के इस जगत में
आत्म-पहचान की चंद स्थितियाँ भर है।

सारी चीजें धुँधली-धुँधली होते हुए भी
जब अपनी सही शक्ल में
पहचान में आ जाती है,
तो सभी भ्रमों के गुलदस्ते
अपनी परिधियों से खिसककर
भरोकर ढह पड़ते हैं।
सम्बन्धों के सारे गजरे
बासी फूलों की तरह

पाँवों-तले कुचल दिये जाते हैं,
या बन्द मुट्ठियों में मसल दिये जाते हैं।

अपनी समझी जाने वाली आत्मीयता,
कल्पना की सीमा से परे,
जब टुच्ची साजिशें रचने लगती है,
तो रोग-ग्रस्त मानसिकता
एक अनिवार्य परिणति बन जाती है।

बोलो रामदेव आचार्य!
क्या तुम उस यातना को भाषा दे सकते हो,
जब स्वयं भुजाएँ ही
देह पर हमला बोल देती हों?
बोलो कवि!
अब भी तुम्हारे भ्रम टूटे या नहीं?

एक तरफ़ पर्दे के पीछे
घात लगाते छद्म,
दूसरी ओर
देह के खिलाफ़ षड्यंत्र रचते
देह के अवयव!
बोलो रामदेव आचार्य!
क्या तुम इस दर्द की आकृति
शब्दों में उभार सकते हो?

ऐसी वंचक स्थितियाँ
गरिमा के खिलाफ क्रूरता की

आखिरी घोषणाएं होती हैं।
जब आदमी अपने घर में ही
हार जाता है,
तो कितना भयानक शब्द बन जाता है,
'घर' उसके लिए!

व्यक्तित्व का अंश-अंश में बिखर जाना
अस्तित्व-हीनता की सम्पूर्ण अनुभूति है।
पर कौन है ऐसा महाबली,
जिसका नशा न टूटा हो ?

जीर्ण-शीर्ण होकर ध्वस्त होना
आदमी का ही धर्म है,
और आदमी कोई पैगम्बर तो नहीं है
कि ध्वस्त न हो !

प्रपञ्चों से
सत्य कब पराजित नहीं हुआ ?
रामदेव आचार्य !
अगर तुम्हारी प्रतिमा
ध्वस्त भी हो गयी
तो कुछ अजीब तो नहीं हुआ !
आखिर तुम
शेक्सपिअर की ट्रेजडी के हीरो तो नहीं थे
कि विशिष्ट' रह जाते !

जिन्दगी-भर एक विचार-धारा को
समर्पित रहकर भी
जब तुम इतना ही नहीं समझ पाये
कि अर्थ-सम्बन्ध
रक्त-सम्बन्धों से बढ़कर होते हैं;
तो इस आंतरिक टूटन को
झेल पाने से
कतराने का तुम्हें क्या हक़ है ?

नितांत अकेले कवि !
जिन्दगी-भर
जिन्दगी को
जज़बातों में जीना
पागलपन नहीं तो और क्या है ?

लेकिन रामदेव आचार्य !
गनीमत है
कि तुम्हारे पागलपन के भीतर
एक रचनाकार का भी
जीवंत, धड़कता हुआ मन है।
पता नहीं,
वह किस धातु का बना है
कि कभी टूटता ही नहीं,
वर्ना क्रूरता-निर्ममता के आक्रमण तो
ज़रूरत से अधिक ही थे
तुम्हें पूर्णतया ध्वस्त कर देने के लिए !

सचमुच ही कवि !
यह सौभाग्य ही है तुम्हारा
कि तुम्हारे पागलपन के भीतर
एक रचनाकार का
जीवंत, धड़कता हुआ मन है !

बीकानेर ५ जनवरी, १९७७

विश्वास अपराजेय

नहीं,
मैं तुमसे हरगिज़ नहीं मरूंगा,
बेहतर है तुम अपने
षड्यंत्रों का घटिया इन्द्रजाल समेट लो !
मेरा नाम पत्थर पर पड़ा हुआ
बौद्ध शिलालेखों-सा
एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है !

तुम्हारे पास है
चहचहाती आवाज़ों का एक चिड़ियाघर,
जिसमें एक-दूसरे के
स्वरूप और स्वर की प्रशस्ति के लिए
"अहो रूपं ! अहो ध्वनि !" का शोरगुल है।
इस अराजक शोर-शराबे में भी
मेरी गम्भीर, मंद, अकेली आवाज़
धीरज और स्पष्टता के साथ
धीरे-धीरे उभरती हुई
अक्षर-जगत के इतिहास का
एक घटना-सा
एक अमर पृष्ठ बनती जायेगी,
और तुम्हारे लिए अहसास छोड़ जायेगी

पराजित प्रयत्नों का,
दम्भी-दरिद्र षड्यंत्रों का।

नहीं,
मैं तुमसे हरगिज़ नहीं मरूंगा!
बहतर है,
मेरा आकार खण्डित करने वाली
ये श्रोछी साज़िशें छोड़ दो।
मेरे क़दम रेत पर पड़ने वाले
मरणशील पदचिन्ह नहीं हैं,
जिन्हें तुम आसानी से बुहार सको,
और वहाँ
अपने क़दमों के निशान अंकित कर सको!

तुम्हारे क़हक़हों और नेत्र-संकेतों के बीच
मेरा नाम इतिहास की छाती पर
स्याही की एक अमिट लकीर
खींचता चला जायेगा,
जो किसी तरह की स्याही उड़ाने वाली दवाओं में
घुलेगी नहीं, साफ नहीं होगी।

और एक दिन
काल का अतिक्रमण करती
कोई शोध-दृष्टि
मेरी सुनसान पगडंडियों पर यात्रा करेगी,
और मेरे बन्द, ताला-जड़े मकान तक पहुँचकर
मेरे एकान्तों से अपना सम्बन्ध जोड़ेगी,
तो बरबस बोलेगी

कि एक समय इस उजाड़ में
एक कवि रहता था,
जिसने अपनी रचना, और
अपने जीवन के बीच
किसी भी नाटक को घटने नहीं दिया,
जिसने अपने निर्मम या सरस अनुभव को
बिना लिखे मरने नहीं दिया।

अफ़सोस कि इसकी प्रत्यक्षदर्शिता के लिए
तुम्हारा चहचहाता चिड़ियाघर नहीं होगा,
न ही होगा तुम्हारा
"अहो रूपं! अहो ध्वनि!" मुहावरा।

नहीं,
मैं तुमसे हरगिज़ नहीं मरूंगा!
बेहतर है तुम अपने
दकियानूसी इन्द्रजाल को समेट लो!
मेरा नाम कोरे कागज़ पर पड़ने वाला
स्याही का एक अमिट हस्ताक्षर है!

बीकानेर — २६ दिसम्बर, १९७०

इतिहास का रहस्य

इतिहास में एक सत्य
अनेक बार दोहराया गया है
कि जब कोई महाबली मारा गया है—
चाहे वह रावण हो या बालि,
भीष्म हो या पृथ्वीराज,
प्रताप हो या अभिमन्यु
उसकी मौत का कारण
उसके परिवार का
कोई विभीषण या सुग्रीव,
कोई शिखंडी या जयचन्द,
कोई शक्तिसिंह या दुःशासन
हो रहा है।

बीकानेर　　　　२४ अक्तूबर, १९७७

एक लेखक का वसीयतनामा

मुझे काले हाशियों के
फ़ैशन में न सजाया जाय।
संस्मरणों–विशेषांकों के कंधों पर
मेरी अर्थी को न उठाया जाय।

ज़िन्दगी जिया हूँ मैं
एक गुर्राते हुए भेड़िये के सामने
शिकार की शक्ल में बिछे मेमने की तरह।
मरने के बाद मुझे
शेर की खाल न ओढ़ायी जाय।

मेरा परिचय देंगे
तंग रास्ते। बन्द कमरे। सस्ते होटल
आकाशवाणी, सभा–भवनों, रंगीन मञ्चों से
मेरे गुब्बारे न उड़ाये जायें।

मेरे नाम का हक हासिल है
मेरी ही जिन्दगी जीनेवालों को ।
कैंची-सी एय्याश जुबानों से
मेरे चिथड़े न बिखेरे जायँ ।

मरूंगा मैं रोग-भूख बेकारी से
ग़ालिब, निराला, मुक्तिबोध बनकर ।
राजनीति से कहो कि मुझे
भवन, भाषण, या शताब्दी न बनाया जाय ।

जो छोटी जिन्दगी जीते हैं।
वे छोटी मौत मरते हैं ।
एक अदना-सी मौत को
विराट् आडम्बर न बनाया जाय ।

बीकानेर

दि० १४ मई, १९६६

और अंत में
अक्षमता : स्वीकारोक्ति

हर बार शब्द
मेरे अनुभवों की निर्ममता को धोखा दे जाते हैं।
भाषा मेरे पास से गुजर कर
मेरा स्पर्श तो करती है,
पर मेरे मानस के अंधकार की आकृति का
सही पर्याय नहीं बनती।
समझौतों की वेश्यावृत्ति को वाणी देने में
हर बार मेरी अभिव्यक्ति लड़खड़ा जाती है।
मैं उन निर्मम मुहावरों की तलाश में हूं,
जो मेरी घृणा को आकार दे सकें।
मैं उस बिम्ब की प्रतीक्षा में हूं,
जो मेरी आत्मा की सड़ान्ध की पहचान करा सके।
मेरे अनुभव को उन पैमानों की तलाश है,
जो मेरी उम्र के इञ्च-इञ्च पर पड़े घावों को
सही माप दे सकें।

इसलिए प्रतीक्षा है।
अभी और प्रतीक्षा है।
अभी और, अभी और।
अभी और प्रतीक्षा है!

आभार प्रदर्शन

- सुप्रसिद्ध समालोचक, कवि और चित्रकार डॉ. जगदीश गुप्त के प्रति प्रारम्भिक वक्तव्य के लिए, जिससे कवि के रचना-संसार को समझने में मदद मिल सकती है।

- मुद्रक युवा कवि सरल विशारद के प्रति, जिनके सौजन्य-पूर्ण सहयोग ने कविताओं को पुस्तकाकृति दी।

- राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और भावात्मक परिवेश के प्रति, जिन्होंने इन संवेदनाओं को उत्प्रेरित किया।

- खलनायकीय क्रूरताओं, और दुष्ट निर्ममताओं के प्रति, जिन्होंने क़लम को आत्म-विश्वास की बुनियाद दी, और मन की सहज प्रतिक्रियाओं को भाव-भूमि दी।

- परिवेश और निजी सम्बन्धों में व्याप्त उन विघटित मूल्यों के प्रति, जिन्होंने कवि की संवेदनशीलता को मानव-जीवन के प्रति एक नये बोध और एक अलहदा दृष्टिकोण से सम्पन्न किया, जिससे, आधा जीवन जीने के बावजूद भी, वह अनभिज्ञ था।

एक आत्मान्वेषण

समीक्षक की राय में

कवि

मेरा पहला कविता-संग्रह "अक्षरों का विद्रोह" अगस्त १९६८ में प्रकाशित हुआ था। दस वर्ष से अधिक समय के बाद यह दूसरा कविता-संग्रह, "रेगिस्तान से महानगर तक" प्रकाशित हुआ है। इस बीच डॉ. जगदीश गुप्त के सम्पादन में, नयी कविता प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित "नयी-१" में मेरी कुछ कविताएँ संकलित की गयी थीं। "अक्षरों का विद्रोह" और "नयी-१" की कविताओं को साहित्य के भावक का जो अनुराग प्राप्त हुआ, उसी से प्रेरित होकर "रेगिस्तान से महानगर तक" कविता-संग्रह की सम्भावना सार्थक हो सकी है।

"अक्षरों का विद्रोह" का प्राक्कथन मान्य कवि और विचारक बालकृष्ण राव (अब दिवंगत) ने लिखा था। यह आकस्मिक संयोग ही है कि एक ही नगर (इलाहाबाद) के दूसरे साहित्य-मनीषी, सुप्रसिद्ध कवि, समालोचक एवं चित्रकार डॉ. जगदीश गुप्त ने "रेगिस्तान से महानगर तक" का पूर्व-वक्तव्य लिखने का श्रम स्वीकार किया है।

अगर प्राक्कथन या पूर्व-वक्तव्य आशीर्वचन की मुद्रा में लिखा जाये तो उसे मैं किसी भी संग्रह के लिए कतई अनावश्यक मानता हूँ। ऐसा पूर्व-कथन मात्र अतिरिक्त साज-सज्जा के और कोई प्रभाव सम्प्रेषित नहीं कर सकता। यदि पूर्व-वक्तव्य रचनाकार की सीमा और सम्पन्नता का उद्घाटन करते हुए, एक रचना-संसार की संयमित व्याख्या करता है, तो उस पूर्व-वक्तव्य की सार्थकता नितान्त आवश्यक हो जाती है, क्योंकि कई बार कविता का औसत पाठक कवि की अनुभूति के सम्पूर्ण संसार को समझने में असमर्थ रह जाता

है। ऐसी स्थिति में एक सुचिन्तित पूर्व-वक्तव्य कवि के रचनात्मक पक्षों को समझाने में मदद देता है।

पूर्व-वक्तव्य की इसी अनिवार्यता को ध्यान में रखकर उस समय स्वर्गीय बालकृष्ण राव तथा इस समय डॉ. जगदीश गुप्त से मैंने प्रारम्भ में ही प्रार्थना करली थी कि वे ऐसा प्राक्कथन लिखें, जो कवि के अंतरंग संसार का विश्लेषण कर सके। बालकृष्ण राव ने अपने प्राक्कथन में मेरी सीमाओं और सबलताओं का एक ऐसा मिश्रित आलेख लिखा था। जिसने आगे चलकर मुझे मेरी दुर्बलताओं से आत्म-साक्षात्कार कराने में बेहद मदद दी थी, और यह, उसी प्राक्कथन की सिद्धि का ही प्रभाव है कि "रेगिस्तान से महानगर तक" की कविताएं सम्भव हो सकी हैं।

डॉ. जगदीश गुप्त से मैंने एकदम तटस्थ रहने की प्रार्थना की थी, जिसके उत्तर में उन्होंने लिखा "किसी संग्रह की भूमिका और तटस्थ समीक्षा में हमेशा फर्क रहता है, पर आपने अपने २५-९-७८ के पत्र में आग्रह किया है स्वच्छन्द भाव से जितना आवश्यक समझें, उतना ही लिखें। इसलिए मैंने छूट ली है। अगर कुछ ठीक न लगे तो जो अनुकूल हो, उतना ही प्रयोग में लायें।"

डॉ. जगदीश गुप्त ने अपनी पूरी सदाशयता और स्नेह-भावना से ये पंक्तियाँ लिखी हैं। उन्होंने जो छूट ली है, वही इस पूर्व-वक्तव्य को रचनात्मक बनाती है। जो-कुछ डॉ. गुप्त ने लिखा है, उसे शब्दशः प्रकाशित कर दिया गया है, अतः अनुकूल' को 'उपयोग' में लेने की संकुचित वृत्ति से मुझे मुक्ति मिल गयी है। डॉ. गुप्त को भी यह आत्म-सुख मिल सकेगा कि उनकी सद्भाव-पूर्ण अनुमति के बावजूद भी उनकी क़लम पर क़लम चलाने की हिमाक़त मैंने नहीं की है।

डॉ. जगदीश गुप्त के पूर्व-वक्तव्य पर निश्चय ही कुछ 'रेजिमेन्टिड' लोग मुझसे नाराज होंगे। यह मैं पहले से ही जानता हूँ। ये लोग मेरे "नयी–" में सम्मिलित होने पर भी नाराज हुए थे। इन लोगों को जगदीश गुप्त के नाम से नफ़रत है, क्योंकि वे डॉ. गुप्त को प्रतिबद्ध लेखन का विरोधी मानते हैं, तथा अपनी प्रतिवादी पूर्वाग्रही मानसिकता के कारण वे डॉ. गुप्त के हर "इरादे" को "षडयन्त्र", और हर "निर्णय" को "छद्म" समझते हैं। ऐसे लोगों के सतही विरोध को नज़र-अन्दाज करना ही मैं उचित समझता हूँ, क्योंकि जहाँ पूर्वाग्रह है, वहाँ 'विचार' और 'प्रचार' का भेद समाप्त हो जाता है। जब डॉ. जगदीश गुप्त, यह जानते हुए भी कि मैं प्रतिबद्ध-लेखन को समर्पित व्यक्ति हूँ, मुझे 'नयी १' में सम्मिलित होने का निमंत्रण दे सकते है, तो जाहिर है कि खोट डॉ. जगदीश गुप्त के मन में नही, लोगों के यांत्रिक चितन में है। काश! वे अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'सप्तकों' में डॉ. रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध के सम्मिलत होने की भी निंदा करते!

साहित्य के खुले आकाश में प्रतिपक्षी विचारधाराओं का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं होता, जितना कृतित्व की सम्पन्नता का होता है। जो बात अज्ञेय को मुक्तिबोध से जोड़ती है, और जो बात डॉ. जगदीश गुप्त को रामदेव आचार्य से जोड़ती है, वह बात केवल कविता है–सहज, प्राकृतिक, आरोप-रिक्त कविता। किस्म-किस्म की कविता के बीच से जो कविता निकलती है, वह विरोधी विचारकों को भी इस स्वीकृति तक तो ले ही आती है कि कविता पहले कविता है, और बाद में विरोध या प्रतिवाद। यशपाल पर लेख लिखते समय मैंने विरोधी विचारधाराओं के इसी समन्वय की बात कही थी, "भारतीय संस्कृति, इतिहास, रीतियों-रिवाजों, रस्मों-परम्पराओं, जीवन-पद्धतियों, तथा वैचारिक आयामों-दायरों पर यशपाल की

अभिव्यक्तियाँ अत्यंत सबल हैं। लेखक से विचार-भेद की सम्भावना बन सकती है, पर यशपाल की तार्किकता, प्रबुद्धता, बोध-दृष्टि और सूक्ष्म ग्राह्य-क्षमता के विरुद्ध कहने को कुछ भी शेष नहीं रहता। यशपाल का शुद्ध साहित्य भावनाओं के सामन्जस्य का वह मञ्च है, जहाँ विरोध के झण्डे गिर जाते हैं, विपक्ष के दावे अर्थ-हीन हो जाते हैं, मतवाद शिथिल पड़ जाते हैं, विलोम औपचारिकताएँ ध्वस्त हो जाती हैं। शेष रहता है मात्र समर्पण-भाव, सम्मान-प्रदर्शन, और कृतित्व-सम्पन्नता का विशुद्ध प्रशस्ति-वचन।"

कृतित्व का यही समन्वय-भाव 'त्रयी-१' में और "रेगिस्तान से महानगर तक" में डॉ. जगदीश गुप्त को रामदेव आचार्य से जोड़ता है, और इस जुडाव को भीतरी गहराइयों में भी कोई षडयंत्र या छद्म नहीं है, बल्कि मात्र उदारता और साहित्यिकता का समृद्ध भाव है। इससे न तो प्रगतिशील लेखन को क्षति पहुँचती है, न प्रतिपक्षी या विरोधी लेखन को। यह जुड़ाव केवल कविता का विचार-प्रचार रहित जुड़ाव है। खतरा तब होता है, जब ऐसे समन्वय से किसी रचनाकार की रचना-प्रक्रिया और वैचारिकता आच्छादित एवं कुण्ठित हो जाये। जब तक रचनाकर अपनी जमीन (रचनात्मकता) पर प्रामाणिक रहता है, तब तक उसका हर जुड़ाव कृतित्व के समृद्ध समन्वय का प्रतीक है। उस प्रसंग में यशपाल, डॉ जगदीश गुप्त, अज्ञेय, मुक्तिबोध, डॉ. रामविलास शर्मा आदि का उल्लेख मैंने स्वयं के प्रति अहंवादी गलतफहमी का रुख रखकर, नहीं किया है। एक रचनाकार की स्थिति में मैं अपनी सीमितता तथा लघुता से परिचित हूँ। बड़े नामों का उल्लेख केवल विचार को सुग्राह्य बनाने के लिए ही किया गया है।

× × ×

किसी पूर्व-वक्तव्य के लेखक को जब यह स्वच्छन्दता रहती है कि वह अपनी निर्णायकता के बोध से रचनाकार की रचनात्मक मानसिकता का विश्लेषण कर सके, तो रचनाकार को भी यह स्वच्छन्दता रहनी चाहिए कि वह पूर्व-वक्तव्य की सारी प्रस्थापनाओं से सहमत न हो पाने की निर्णय-दृष्टि बनाये रख सके। डॉ. गुप्त की अनेक प्रस्थापनाओं के प्रति श्रद्धा-भाव रखते हुए भी उनसे कहीं कहीं असहमत होना मेरी विवशता है, जिसे डॉ. गुप्त अरचनात्मक या हठधर्मिता-पूर्ण प्रतिवाद न मानेंगे। संक्षेप में, इस पूर्व-वक्तव्य के बारे में, तथा इसके अतिरिक्त, जो-कुछ मुझे कहना है, वह इस प्रकार है।

सोल्जेनित्सिन के सन्दर्भ में मैं यह बात तो सही मानता हूँ कि लेखक के सामने अभिव्यक्ति-संकट से बढ़कर अस्तित्व का कोई और संकट नहीं हो सकता, पर जहाँ डॉ. जगदीश गुप्त "विचार-विशेष के घेरे में" मनुष्य को "दीक्षा-पंगु" बना देने की बात कहते हैं, वहाँ मैं उनका संकेत समझता हूँ, और उनसे किसी स्तर पर सहमत नहीं हो पाता। मेरी राय में दरअसल यह 'विचार विशेष' ही है, जो आदमी को 'दीक्षा-पंगु' न बनाकर, उसको सभी संस्कारों-रूढ़ियों-उत्पीड़नों-शोषणों से मुक्ति की घोषणा करता है, तथा आदमी को आदमी के रूप में सम्पन्न और नया जीवन जीने की प्रेरणा देता है। हाँ, विचार की किसी परम्परा को जड़ रूप में स्वीकारना मैं मानव-बोध का रेजिमेन्टेशन मानता हूँ, और मेरी समझ में यह 'विचार-विशेष' आदमी के चिंतन की स्वतंत्रता को स्वीकार करता है, बशर्ते कि वह चिंतन असामाजिक तथा अमानवीय वर्ग-भेद का हितैषी न हो। सोल्जेनित्सिन के प्रसंग में भी लेखक की अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता के लिए लड़ी गयी लड़ाई तो सार्थक है, पर पूँजीवादी देशों द्वारा सोल्जेनित्सिन के संघर्ष को जो समाजवादी व्यवस्थाओं

के खिलाफ औजार के रूप में प्रयोग में लिया जा रहा है, वह निश्चय ही हीन कर्म है, तथा किसी भी देश की व्यवस्था के आंतरिक अंतर्विरोध और संघर्ष का नाजायज और शरारत-पूर्ण प्रयोग है। सोल्जेनित्सिन का संघर्ष सोवियत व्यवस्था में प्रतिपक्ष की भूमिका में खड़े हुए लेखक का अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए किया गया संघर्ष है, इसके अतिरिक्त इस संघर्ष की व्याख्या, मेरी राय में, एक सुनियोजित कपट है।

इसी प्रकार डॉ॰ गुप्त की इतिहास की व्याख्या भी उस 'विचार विशेष' पर कहीं-न-कहीं प्रहार करती है। यह व्याख्या इतिहास की एक पक्षीय व्याख्या है, जो यद्यपि सुविचारित है, पर एकांगी है। इतिहास मानव नियति का पर्याय उसी समय बनता है, जब मानव नियति को अमानवीय शक्तियां पद-दलित करने लगती हैं। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक आवृत्ति, अनिवार्य हो जाती है, क्योंकि मुक्ति-संग्राम में ऐतिहासिक प्रक्रिया का पुनर्जागरण मानव-समाज की अंततोगत्वा नियति बन जाता है। संसार के इतिहास पृष्ठ इसके उदाहरण हैं। इस पुनर्जागरण के दौरान समाज का एकजुट आह्वान सर्वोपरि रहता है, और व्यक्ति का आंतरिक संकट गौण हो जाता है। मानव-नियति की ऐतिहासिक अनिवार्यता उसी दिन गौण हो सकती है, जिस दिन मानव-मुक्ति की सम्पूर्ण भूमिका सार्थकता प्राप्त कर ले। फ़िलहाल तो ऐतिहासिक शक्तियां शोषक शक्तियों से जूझती रहेंगी, और उन्हें पराजित करती रहेंगी। इस संघर्ष के बीच उभरती व्यक्तिवादी आलापें मात्र आलापें रहेंगी, ये मानव-नियति की अनिवार्य और महत्वपूर्ण संरचनाएं नहीं बन सकेंगी।

मेरी "इतिहास की पुनर्रचना" कविता डॉ. गुप्त को 'कनुप्रिया' की मनोभूमि का स्मरण दिलाती है, अतः डॉ. गुप्त एक सही सीख देते हैं—'वह दिशा श्रेयस्कर नहीं होगी।' डॉ. गुप्त ने भी संग्रह

की अनेक कविताओं में यह पाया है कि इस दिशा का विकास नहीं हुआ हैं। वे कहते हैं, "इस संग्रह की बहुत-सी कविताओं में कवि ने अन्तसंघर्ष करके, रूमानियत के घेरे को तोड़ते हुए, याकि उससे अपने को नये स्तर पर जोड़ते हुए, आत्म-परिष्कार किया है। उसकी "हमसफ़र कवि के नाम" ऐसी ही कविता है, जिसमें 'कविता' को लेकर कवि ने अपनी विषम मनोदशा का, 'वेश्या' और 'छिनाल औरत' के प्रतीक अपनाकर नंगी भाषा में इज़हार किया है।" अतः मैं स्वयं 'कनु-प्रिया' की सम्पन्नताओं और सीमाओं से परिचित हूं, धर्मवीर भारती को मैं भारतीय रूमानियत की चरम अभिव्यक्ति मानता हूं। एक ओर यह रूमानियत पाठक को रस-प्लावित करके भावना के अपार आवेगों का सृजन करती है, तो दूसरी ओर यह रूमानियत बुद्धि को आच्छादित करके अभिव्यक्ति को असंयमित भी बनाती है। मेरी कविता "इतिहास की पुनर्रचना" की यह रूमानी भाव-भूमि नहीं है। इसके प्रथम अंश में उभरी रूमानियत इसके कथन की अपरिहार्य मांग है, पर कविता के दूसरे अंश में मानव-चेतना रूमानियत पर हावी होकर अभिव्यक्ति को क्रान्तिधर्मी और तटस्थ बना देती है। अतः "इतिहास की पुनर्रचना" की दिशा 'कनुप्रिया' की दिशा नहीं है, क्योंकि इसमें चेतना और रूमानियत के बीच संघर्ष है, और अंततोगत्वा चेतना के हाथों रूमानियत का पराजय है।

मुझे जहां अपनी गज़लों व नज्म से संतोष मिला है, वहां डॉ. गुप्त को उनमें सगठन की ढिलाई और कच्चापन नजर आये है। हो सकता है कि यह रुचि-भेद का प्रश्न हो, हो सकता है कि रचनाकार के मोह-वश मुझे अपनी दुर्बलताएं नजर न आयी हों। दुष्यंतकुमार की कुछ गज़लें तो वास्तव में तल्ख और अविस्मरणीय हैं, पर कुछ गजलें दुर्बल और अशक्त भी है। उनकी सशक्त गज़लों ने उनकी अशक्त गजलों के प्रति पाठक को उदार बना दिया है।

डॉ. गुप्त की मान्यताओं और निर्णय-क्षमताओं की प्रतिक्रिया में यह जो-कुछ मैंने कहा है, वह मात्र आत्म-निवेदन के रूप में है, खण्डन-मण्डन की दूषित प्रवृत्ति के रूप में नहीं है। वास्तव में डॉ जगदीश गुप्त की लम्बी भूमिका के एक अल्प अंश के प्रति यह विचार-भेद की स्थिति बनी है। शेष भूमिका की प्रबुद्धता और तार्किकता, निर्विवाद रूप से स्वतः सिद्ध है। पाठक चाहे पूर्व-वक्तव्य का कोई अर्थ ग्रहण करें, मेरी राय में, जिन सीमाओं और शक्तिय का इसमें उल्लेख है, वह एक रचना-संसार की विमुक्त समालोचकीय व्याख्या है, डॉ. जगदीश गुप्त के प्रति जो विचार-भेद मैंने व्यक्त किया है, वह विचार-भेद भी कविता के उसी समन्वय-धरातल पर समाप्त हो जाता है, जहाँ कविता कविता रहती है, और विचार मात्र विचार। विचार कविता का अतिरिक्त आभूषण हो सकता है, पर कविता की रचना-प्रकृति केवल सही और शाश्वत कविता की सही और शाश्वत अनुगामिनी ही हो सकती है।

+ + +

डॉ. जगदीश गुप्त ने 'त्रयी-१' में प्रकाशित अपनी कविताओं के बारे में दिये गये मेरे वक्तव्य के कुछ अंश अपने पूर्व-वक्तव्य में उद्धृत किये हैं, तथा माना है, 'वर्षों के अंतराल के बाद कवि का वक्तव्य बदल सकता है; नये संग्रह की नयी कविताओं के सन्दर्भ में, अनुभूतिगत परिपक्वता के परिप्रेक्ष्य में, तथा परिवेश के बदल जाने की वजह से।'' 'त्रयी-१' में दिये गये कविता-विषयक मेरे वक्तव्य में परिवर्तन की गुंजाइश तो मैं महसूस नहीं कर रहा हूँ, पर उसमें संवर्द्धन की स्थितियाँ बन गयी हैं। 'रेगिस्तान से महानगर तक'' संग्रह में कई कविताएँ ऐसी हैं, जो सम्बन्धों के त्रास की भयंकरता का बोध कराती हैं। मेरे लिए देश और समाज का परिवेश तो आज भी जहाँ-का-तहाँ हैं, यथास्थितिशीलता के कारण वक्तव्य में संवर्द्धन

या परिवर्तन की स्थितियाँ कम हैं, हाँ, व्यक्तिगत सम्बन्धों का परिवेश बहुत बदल गया है, जिसकी ध्वनियाँ इस संग्रह की अनेक कविताओं मे हैं ।

दिवंगत मनीषी बालकृष्ण राव ने 'अक्षरों का विद्रोह' का प्राक्कथन (१९६८) लिखते समय मेरी कविताओं के गुणों और दोषों का निरपेक्ष और संयमित विवेचन किया था। उन्हें उस समय मेरी कविताओं में व्यंजकता की कमी मिली । मेरी शैली उन्हें सपाट और अभिधात्मक लगी । कविताएँ अनुभव के स्तर पर कमजोर नजर आयीं । उनमें वक्तृत्व–प्रियता का दोष दिखायी दिया, विद्रोह का स्वर हल्का लगा, तथा व्यंग्य की सीमा भी ऊपरी सतह तक ही दिखायी दी । इन सब दोषों के बावजूद भी मेरी कविताओं के बारे में उनकी निर्णायकता यों बनी, 'रामदेवजी की कवितामें मुझे आकर्षित करने वाला तत्व मिला और वह तत्व या गुण उसकी असाधारणता में झलकता था। आज कवितामें ऐसी सहजता, साधारणता, अकृत्रिमता अलभ्य है । इनकी कविता साधारण का विद्रोह है, असाधारण के आतंक के विरुद्ध । इनकी कविता परिवेश में व्याप्त कृत्रिमता की घुटन के विरुद्ध सवेदनशील. व्यक्ति की सहज प्रतिक्रिया है ।"

बालकृष्ण राव का विश्लेषण एक परिपक्व मनीषी का था । निष्कपट तथा आत्मीयता से सम्पृक्त रहकर किया गया व्यापक सर्वेक्षण था । उनके प्राक्कथन के प्रकाश में मैंने अपने भीतर एक लम्बी अंतर्यात्रा की । 'अक्षरों का विद्रोह' के बाद लिखी गयीं मेरी कविताएँ अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता की तलशती अपनी काव्य–यात्रा प्रारम्भ करती हैं । मेरी बाद की कविताएँ व्यंजकता, साँकेतकता तथा ध्वन्यात्मकता की दृष्टियों से अधिक परिपक्व हुई हैं । अपनी भावुकता को संयमित रखते हुए मैंने अभिव्यक्ति के कच्चेपन से मुक्त होने का भरपूर प्रयत्न किया है। "रेगिस्तान से महानगर तक"

में मेरी कविताएँ मेरे काव्य-संस्कारों में पनपे एक बड़े परिवर्तन की साक्षी हैं, जिसके लिए मैं हृदय से दिवंगत मनीषी बालकृष्ण राव का आभारी हूँ।

अपनी कविताओं को शिल्प तथा कथ्य की दृष्टि से एकान्वित के रूप में देखूं तो मैं कहूँगा कि आभिजात्य के मोह से रिक्त मेरी कविताएं सहजता-साधारणता आत्मीयता की कविताएँ हैं। मैं नहीं जानता कि इनसे कविताओं में असाधारणता आ पायी है या नहीं, इतना मैं निश्चय ही जानता हूँ कि मेरी कविताएँ भावक को सम्प्रेषण के स्तर पर धोखा नहीं देतीं। चाहे वे उसे प्रभावित या आनन्दित करें, न करें, पर वे उसे "कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा" के पश्चाताप् से मुक्त रखती हैं। इसका एक ही कारण है-न तो मेरे अनुभव की प्रक्रिया जटिल है, न अभिव्यक्ति की।

जब अनुभव की बात करता हूं तो एक त्रासदायक सत्य के समक्ष स्वयं को अपराधी के रूप में खड़े हुए पाता हूँ। मेरे लिए कविता का सत्य एक गहरा और त्रासदायक अनुभव है, और मुझे लगता है कि इस त्रास को वाणी देने में मैं अनेक बार लड़खड़ा जाता हूँ :—

मैं उन निर्मम शब्दों की तलाश में हूँ,
जो मेरी घृणा को आकार दे सकें,
मेरे अनुभव को उन पैमानों की तलाश है,
जो मेरी उम्र के इञ्च-इञ्च पर पड़े
घावों को सही माप दे सकें।

मैं कविता लिखते समय एक भीतरी व्यथा से संत्रस्त हो जाता हूँ। मेरी अस्मिता आन्दोलित और विचलित हो जाती है, तब "रचना का जन्म" होता है :—

जब-जब लिखने बैठता हूँ
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

मैं अपने परिवेश की घुटन को आकृति देता हूँ। अपने त्रासदायक अनुभव से कोई सुविधावादी समझौता नहीं करता। कवि के दोहरेपन पर 'महाभियोग' लगा सकता हूं, तथा खुले मन से स्वीकार कर सकता हूँ :—

हम में भी लड़ने को एक तमन्ना थी
क़दम-क़दम पर समझौतों ने मार दिया

× × ×

मैंने जितना जिया, जिया अति साधारण,
यों लगता है जन्म अकारथ बीत गया।

मैं अनुभव और चमत्कार का भेद जानता हूँ। भोगने-जीने तथा नारे-नुस्खे-फैशन के अंतराल को पहचानता हूँ, इसलिए मेरा अनुभव अनुकृत, अधूरा अनुभव नहीं है, तथा मेरी कविताएँ पर्यायवाची अभिव्यक्तियाँ, अनुकृतियाँ और आवृत्तियाँ नहीं हैं। हर कविता की बुनियाद में जिस्म, मन या परिवेश के स्तर पर भोगा हुआ एक संवेदनशील अनुभव है, इसलिए ये कविताएँ केवल मेरी हैं, "किसी और की नहीं, उन पर यह चार्ज नहीं लगाया जा सकता—इस दौर की कविताएँ किसी एक ही कवि द्वारा रची गयी व्यक्तित्व-हीन रचनाएँ लगती हैं।"

संग्रह की पहली कविता 'रेगिस्तान से महानगर तक' रेल-यात्रा के मध्य बीकानेर से बम्बई तक फैली हुई विराट् प्रकृति के विविध रूपों का अलौकिक और आह्लाददायक चित्रण है, तथा प्रकृति के सहज और आत्मिक आह्लाद के विपक्ष में महानगर काए मशीनी,

यन्त्रवत् और भव्य पर अमानवीय जीवन है। इस प्रकार यह कविता आदमी की आदिम संस्कृति, तथा इस संस्कृति से उत्पन्न आदमी के मानवीय, संवेदनात्मक उच्छ्वासों के विरुद्ध आधुनिक भव्य दिखने वाले जीवन के भीतरी खोखलेपन का दिग्दर्शन कराती है, तथा दो संस्कृतियों को आमने-सामने विपक्षी मुद्राओं में खड़ी करती है।

यों तो किसी भी कवि के लिए यह अत्यंत कठिन कार्य होगा कि वह अपनी अनेक कविताओं में से कुछ ऐसी कविताएँ छांट सके, जो उसकी रचनात्मकता का प्रतिनिधित्व कर सकें, पर शायद हर कवि के लिए यह सहज बात होगी कि वह अपनी प्रिय कविताओं की एक तालिका बना सके। 'रेगिस्तान से महानगर तक" में मेरी प्रिय कविताएँ हैं :—'रेगिस्तान से महानगर तक', 'एक पौराणिक वेदना', 'श्रम-भग का गीत', 'प्रतिशोध : एक रूपक', 'रक्त-सने हस्ताक्षर', 'रचना का जन्म', 'समर-संकल्प-दो', 'हमसफ़र कवि के नाम', 'दो सूरजों के बीच', 'काले चश्मेवाला अश्वारोही', 'इतिहास की पुनर्रचना', 'एक मनु-जिज्ञासा', 'थकी जिन्दगी का गीत', 'कहाँ आ गये हम', 'महाभियोग', 'दो डायरियाँ और अपनी कविता से संवाद', 'केवल एक जगह', 'अनुत्तरित-प्रश्न', 'ग़ज़लें', 'बारूद का त्योहार', 'भूख बोलती है' 'एक अंत-हीन यात्रा', 'इक्कीसवाँ गणतंत्र दिवस', 'स्वप्न-शोधियों का हास्य-रूपक', 'रोशनी का रहस्य', 'स्वयं से संवाद', 'विश्वास अपराजेय', और, एक लेखक का वसीयत-नामा' वैसे यह सर्वविदित है कि कवि के वक्तव्य पर विश्वास न करके उसकी कविताओं पर ही विश्वास किया जाना चाहिए।

'रेगिस्तान से महानगर तक' की अनेक कविताओं में भाषा, अभिव्यक्ति, कथ्य, और भाव के स्तर पर नये प्रयोग हैं, पर हर कविता की केन्द्रीय अर्थवत्ता सुग्राह्य, सहज, एवं आत्मीय है। प्रयोग मूल वस्तु पर हावी नहीं हैं, बल्कि वस्तु से एकाकार हैं। जहाँ अनु-

भव सघन और त्रासदायक हो गया है, वहाँ फन्तासी की रचना हुई है—'प्रतिशोध : एक रूपक', 'तलाश एक औरत की,' 'काले चश्मे वाला अश्वारोही', 'महाभियोग', 'बहस मकान से', तथा 'रोशनी का रहस्य'। जहाँ अनुभव भाव और कोमलता के स्तर पर संवेदनशील हुआ है, वहाँ ग़ज़लों, गीतों, और छन्द-बद्ध कविताओं की रचना हुई है। जहाँ अनुभव विचार से सम्पन्न है, वहाँ लम्बी कविताएँ साकार हुई है। कविताओं में प्रतीक, बिम्ब, उपमा के स्तर पर अनेक नयी उक्तियाँ हैं, पर कथ्य की शाश्वत, मानवीय, सहृदय परम्परा का कहीं भी अतिक्रमण नहीं है। यदि कहीं अवाञ्छित, अमर्यादापूर्ण, अश्लील अभिव्यक्ति है (केवल एक-दो स्थानों पर), तो वह उस कविता के कथ्य की अनिवार्यता है।

संग्रह की पहली कविता, 'रेगिस्तान से महानगर तक' के प्रथम अंश में प्रकृति-दर्शन मेरे अपने काव्य के उन स्थलों में से एक है, जो मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। 'एक पौराणिक वेदना' और 'समर-संकल्प—दो' की मानवीय तार्किकता भी मेरे मन का अनेक बार स्पर्श करती हैं। 'दो डायरियाँ और अपनी कविता से संवाद,' 'इकतीसवाँ गणतन्त्र-दिवस', 'हमसफ़र कवि के नाम', तथा 'काले चश्मेवाला अश्वारोही' ऐसी लम्बी कविताएँ हैं, जहाँ मैं अपनी आत्मा की ध्वनि-प्रतिध्वनि सुनता हूँ।

संग्रह की सारी कविताएँ अनुभवों के घेराव में लिखी गयी हैं, चालू मुहावरों, और चालू पैटर्नों से प्रेरित काव्य-स्थितियाँ कहीं भी फलीभूत नहीं हुई हैं। मेरे अनुभव-जगत में विडम्बना तथा सायास नाटकीयता को कोई स्थान नहीं है। जहाँ कई कविताएँ नितान्त निजी, वैयक्तिक अनुभूतियों की कविताएँ हैं, वहाँ अनेक कविताएँ घुटनशील परिवेश में व्यवस्था के खिलाफ़ नफ़रत और विद्रोह की कविताएँ हैं। कई कविताओं में प्रकृति-अनुराग और

सहज रूमानियत है और कई कविताएँ रूढ़िग्रस्तता, संस्कारबद्धता के विरुद्ध आक्रोश की घोषणाएँ हैं। संग्रह की कुछ कविताएँ पौराणिक-सन्दर्भों की बुनियाद पर खड़ी हैं, पर उनकी व्याख्या नयी और मेरी दृष्टि के अनुकूल है। परम्परा, चाहे वह साहित्य की हो, इतिहास की हो, या पुराण की हो, रक्त की तरह मेरे तन-मन में रची-बसी है। परम्परा से विद्रोह भी, प्रकारान्तर से, परम्परा की स्वीकृति ही है। इस सन्दर्भ में डॉ. गुप्त कहते हैं, 'रामदेव आचार्य को अगर यह सांस्कृतिक विरासत प्राप्त न होती तो वे न तो अर्जुन को सम्बोधित करके वह सब कहते......और न द्रौपदी के व्यक्तित्व को नया निखार देकर एक 'पौराणिक वेदना' जैसी सशक्त कविता ही लिख पाते।......उनका यह पक्ष अनुपेक्षणीय ही नहीं, अनुशसनीय भी है, विशेष कर तब जब वे परम्परा की ओट ही नहीं लेते, उसकी चोट भी सहते हैं।'

मेरी कविताओं का मूलभाव परिवर्तन का है। मेरे मन में वर्तमान के प्रति नफरत-भरा आक्रोश है, तथा भविष्य के प्रति एक आस्थापूर्ण श्रद्धा है। मैं अकवितावादियों के खोखले और बुनियाद-हीन गुस्से के मुहावरे से प्रभावित नहीं होता हूँ। मेरा विद्रोह-शब्दों और रूपों में नहीं है, अर्थों में है, मन में है। विद्रोह का जन्म सिद्धांत से होता है, मन की तीव्र प्रतिक्रिया से होता है, भाषा की बाजीगरी और शब्दों के असंयत प्रलाप से नहीं। आज की आस्थाहीनता मुझे भी आंदोलित करती है, मैं अपने समय के विघटित होते मानव-मूल्यों का प्रत्यक्ष-दर्शी हूँ, लेकिन भय से मैंने आँखें मूँद नहीं रखी हैं। मेरा मूल स्वर पराजय, हाहाकार, और सन्त्रास का नहीं है। मैं व्यक्ति को उसके अकेलेपन में 'कुण्ठारहित इकाई' के रूप में नहीं देखता। अकेलेपन की ऊब मुझे ऊबाती है। मैं एक विशाल जन-प्रवाह का हिस्सा हूं, मेरा अलग अस्तित्व भी एक बूंद

की तरह है, जिसका अस्तित्व, जलाशय में मिलकर ही स्थायी होता है, तथा जो वियुक्त रहकर नष्ट हो जाती है :—

मैं हूँ भीड़ का एक स्वर,
मैं हूँ नदी की लघु बूँद,
मैं नभ-गंगा का एक दीप।

डॉ. जगदीश गुप्त ने भी यह बात कही है, 'रामदेव आचार्य ने अपने कवि-कर्म के पीछे एक दायित्व-बोध, एक विशद सम्पृक्ति, एक आन्तरिक दबाव अनुभव किया है, जो उपेक्षणीय नहीं है।'

सृजन के स्तर पर मेरा मार्ग एक अन्वेषी का है, पर मेरे पास विशिष्टता का पोज नहीं है। अपनी कविताओं में मैं सृजन के ऐसे विविध रूपों का अन्वेषण कर रहा हूँ, जो व्यतीत के अवशेषों पर एक नयी इमारत की रचना के दौरान इमारत का एक छोटा हिस्सा बन सके। इसीलिए ये रचनाएँ अपनी रूपाकृति एवं भावानुभूति में अलहदा-अलहदा हैं। उनका रचनात्मक ढाँचा एक-जैसा, एकांगी, तथा एकलयवादी नहीं है। उनकी सृजन-क्षमता नितान्त निजी एवं मौलिक है। इनमें कई कविताएँ ऐसी हैं, जो स्थापित मूल्यों और रूपों के प्रति विद्रोह करके नये मूल्यों तथा रूपों की स्थापना करती हैं; नये रूपों, बिम्बों, तथा फन्तासियों की रचना करती हैं।

उपमा के स्तर पर एक प्रयोग है :—

जिन्दगी जिया हूँ मैं
एक गुर्राते हुए भेड़िये के सामने
शिकार की शक्ल में बिछे मेमने की तरह।

कहीं-कहीं कोरी सपाटबयानी भी काव्य-संवेदना का सृजन करती है। मैं काव्य के किसी भी उपकरण को प्रयोग में लूँ, वह कथ्य से एकाकार होता है। काव्य-संवेदना उसकी प्रथम तथा अंतिम

शर्त है। बिम्ब, प्रतीक, उपमा या रूपक से रिक्त जहाँ कहीं सपाट अभिव्यक्ति है, वहाँ भी संवेदनात्मक, काव्यात्मक अर्थवत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न है।

मेरी कविता सुरूप की आकांक्षिणी है, कुरूप तथा अरूप से मेरा तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए एक अर्थ में मैं आस्थावादी, सौन्दर्यवादी तथा आदर्शवादी हूँ। न तो मेरे विषय अश्लील हैं, न मेरी अभिव्यक्तियाँ। अश्लीलता को मैं भारतीय परिवेश की देन के रूप में स्वीकार नहीं करता; उसे कवियों द्वारा अपनायी हुई आरोपित एवं स्वेच्छाचारी स्वच्छन्दता मानता हूँ।

भाषा से मुझे रोमान्स है, और यह रोमान्स आसक्ति की हद तक है। बालकृष्ण राव मेरी भाषा के बारे में कहते हैं, 'रामदेव आचार्य इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। वे कहीं भी न धोखा खाते नजर आते हैं, न धोखा देने की कोशिश करते।......इस संयम के पीछे भाषा और भावक के प्रति जो आदर परिलक्षित होता है, वह कवि की निर्भ्रान्त दृष्टि का प्रमाण और परिणाम है।' मुझे पता नहीं इस कथन में कितना सत्य है, पर मैं शब्दों-रूपों की तब तक निरन्तर तलाश करता हूं, जब तक मेरी भाषा मेरी काव्य-चेतना को संतुष्ट न कर दे। मैं जटिल अर्थ-ध्वनियों से बचता हूँ। भाषा मेरी कविता में सहजता-साधारणता-आत्मीयता की सृष्टि करती है—कथ्य और शिल्प को एकाकार करती हुई। मेरी रचना-प्रक्रिया भाषा के क्षेत्र में काट-छांट की प्रक्रिया है। भाषा का अंतिम रूप वही होता है, जो मेरी काव्य-चेतना को सृजन का आनन्द दे सके। इसलिए —

मैं अपनी ही मूर्त्तियों को
ढहाता हूँ, रचता हूँ।

ढहाने-रचने की यह दोहरी प्रक्रिया चलती रहती है। भाषा तथा शब्द-योजनाओं में विविध रूपों का अन्वेषण चलता रहता है, जबकि केन्द्रीय भाव यथावत् रहता है। भाषा के स्तर पर मेरी कविता-प्रक्रिया पुनर्निर्माण तथा पुनरुद्धार की प्रक्रिया है। कविता मेरे लिए "A Spontaneous outburst of powerful feelings" नहीं है।

अंत में, मेरे रचनात्मक धरातल का सत्य है:—

जब-जब लिखने बैठता हूँ,
सारे जिस्म का खून
उँगलियों की पोरों पर जमा हो जाता है।

और परिवेश के यातना-दायक अनुभवों का सत्य है :—

.........इस देश में
कविता लिखना या तो एक तपस्या है,
या फिर क़ैदी पंखों की
एक मूर्खता-पूर्ण छटपटाहट।

रामदेव आचार्य